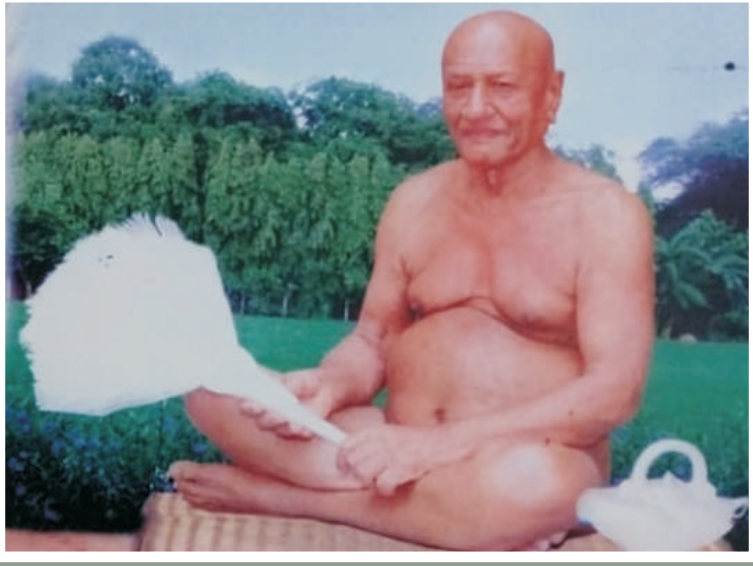

परम पूज्य श्वेतपिच्छाचार्य
श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

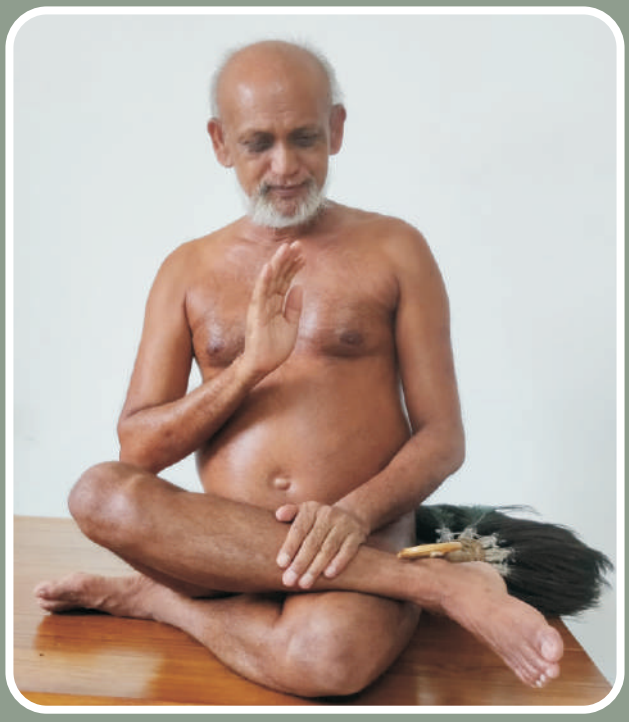

श्री रतन स्वरुप जैन, राजेश जैन, मधु जैन,
माधवी जैन, विभंश जैन अजमेर, राजस्थान

पुण्णास्रव-णिलयो

(पुण्यास्रव-निलय)

मंगल आशीर्वाद

परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती राष्ट्रसन्त
श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानन्दजी मुनिराज

ग्रंथकार

परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

ग्रंथ -
पुण्णासव-णिलयो
(पुण्यास्त्रव-निलय)

मंगल आशीर्वाद
परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती राष्ट्रसन्त
श्री 108 विद्यानन्दजी मुनिराज

ग्रंथकार
परमपूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्वनंदनी

संस्करण - प्रथम 2021

प्रतियाँ - 1000

मूल्य - सदुपयोग

ISBN : 978-93-94199-00-2

प्राप्ति स्थान
निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति
ई० 102 केशर गार्डन
सै० 48 नोएडा-201301
मो. 9971548889
9867557668

मुद्रण व्यवस्था
अलंकार प्रकाशन

सम्पादकीय

कोऽप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽतिजरसाग्रस्तोऽपि लावण्यवान्,
निःप्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याधुष्यते मन्मथः।
उद्योगोज्झित-चेष्टितोऽपि नितरामालिङ्ग्यते च श्रिया,
पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायेत यद् दुर्घटम्॥

पुण्य से अन्धा मनुष्य भी सुलोचन हो जाता है, अत्यंत वृद्ध भी सौन्दर्यवान् हो जाता है, निःप्राण-मरणोन्मुख जीव भी इंद्र बन जाता है, कुरूप भी कामदेव कहलाने लगता है, उद्योगहीन मनुष्य भी लक्ष्मी से आलिंगित हो जाता है तथा पुण्य से समस्त अन्य कठिन कार्य भी सुघट-सिद्ध हो जाते हैं।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभाव-निष्ठ-
मार्हन्त्यमन्तरहिताखिलसौख्यमग्र्यम्॥ 272॥

(महापुराण सर्ग-16)

पुण्य से सुर, असुर, मनुष्य व धरणेन्द्र के श्रेष्ठ सुख लक्ष्मी, आयु, अनुपम सौन्दर्य, सम्पत्ति, बुद्धि, इंद्र का साम्राज्य, पुनर्जन्म से रहित आर्हन्त्य पद और अंत रहित सुन्दर सुख की निश्चित ही प्राप्ति होती है।

संसारी प्राणी का जीवन नदी के समान सतत् प्रवाह से युक्त है। नदी में कभी लहरें उठती हैं, कभी गिरती हैं इसी प्रकार जीवन में कभी उत्साह, उमंग, उन्नति की वीचियाँ उठती हुई दृष्टिगोचर होती हैं तो कभी उससे विपरीत, गिरती हुई दिखाई देती हैं। जीवन में ये अनुकूलताएँ पुण्य के उदय को प्रदर्शित करती हैं एवं दुःख, पीड़ा, प्रतिकूलताएँ वा कष्ट पापोदय को सूचित करती हैं। पुण्य के उदय में व्यक्ति को समस्त अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं, वन में भी राज्य की स्थापना हो जाती है। इसके विपरीत पाप के उदय में राजा भी रंक हो जाता है। स्वजन साथ छोड़ देते हैं, राज्य भी वीरान हो जाता है। आचार्य श्री ने इसी ग्रंथ में कहा है –

णीयो अप्पाउक्को, वियलंगो-वाहिल्लो पावेणं।

भारवाहग-दरिद्दो, दासविट्टि संजुदो जीवो।।214।।

पाप से जीव नीच, अल्पायुष्क, विकलांग, रोगी, भारवाहक, दरिद्र व दासवृत्ति से युक्त होता है।

यद्यपि मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक ज्ञानियों के लिए पुण्य व पाप दोनों ही हेय हैं। आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी जी ने समयसार के चतुर्थ अध्याय की दूसरी गाथा में कर्मबंध की शुभाशुभता का वर्णन करते हुए कहा है कि जैसे लोहे की बेड़ी बंधनकारी है वैसे ही सोने की बेड़ी भी बंधनकारी है। इन दोनों में से किसी भी बेड़ी से बंधा हुआ मानव बद्ध ही कहलाएगा। इसी प्रकार पुण्य व पाप है। पुण्य सोने की बेड़ी है और पाप लोहे की। ग्रंथकार ने भी इस ग्रंथ की 208वीं गाथा में कहा है –

वीयराय-जोगीणं, कणयायस-पिंडोव्व पुण्णपावं।

जदवि दोण्णि चिय भिण्णा, तहवि उज्झेज्ज उहयकम्मं।।208।।

वीतराग योगियों के लिए पुण्य स्वर्णपिंड व पाप लोह पिंड के समान है। यद्यपि दोनों ही भिन्न हैं तदपि उभय कर्मों को छोड़ना चाहिये।

यह बात ठीक है किन्तु जहाँ आचार्यों ने पुण्य-पाप को हेय कहा वहीं **'पुण्यं कुरु'** इत्यादि शब्दों से श्रावकों के लिए पुण्य की प्रेरणा भी दी। पाप नष्ट करने के लिए विशेष यत्न करना पड़ता है किन्तु पुण्य आसानी से नष्ट हो जाता है। जब तक पुण्य व पाप दोनों को छोड़ निश्चय में पहुँचने का सामर्थ्य नहीं है तब तक पुण्यार्जन उचित है। जैसे जब तक जिस ट्रेन में बैठना है वह नहीं आ रही तब तक कड़कती-चिलचिलाती धूप में खड़े होकर झुलसते हुए दु:ख पाने से अच्छा है *A.C. Waiting Room* में ही बैठ लिया जाए।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी जी ने भी कहा है **"पुण्यफला अरिहंता।"** नि:कांक्ष भाव से किया गया पुण्य अरिहंत पद को देने में समर्थ है। अत: भव्य जीव सदैव उन कार्यों में संलग्न रहें जो पुण्यास्रव का कारण हैं। जिस प्रकार लोक में देखा जाता है कि गृहस्थी को सुचारू रूप से चलाने के

लिए, समाज में प्रतिष्ठित रूप से रहने के लिये व्यक्ति को धन की आवश्यकता होती है उससे कहीं अधिक आवश्यकता जीव को समीचीन व सुखद जीवन हेतु पुण्य की होती है।

प्रथमानुयोग आपूरित है ऐसे उदाहरणों से जहाँ पुण्य के उदय में अग्नि का नीर बन गया, सूली का सिंहासन वा नाग का हार बन गया तो वहीं पाप के उदय में 22 वर्ष का पति से वियोग सहना पड़ा, लोकापवाद के भय से गर्भ समय वन में छुड़वा दिया गया, उपसर्ग हुए इत्यादि। अत: स्पष्ट है कि नि:कांक्ष भाव से किया गया पुण्य जब तक संसार में है तब तक उस सांसारिक यात्रा को सुखद व पुन: परंपरा से मोक्ष देने में भी समर्थ है।

अत: लोक कल्याण की भावना से परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने 228 गाथाओं में **"पुण्णासव-णिलयो"** (पुण्यास्रव-निलय) नामक प्राकृत ग्रंथ की रचना की एवं भव्य जीवों के लिए करने योग्य कार्य 'जो पुण्यार्जन के हेतु हैं' को लिपिबद्ध किया। पुण्य के विषय में आचार्य भगवन् ने स्वयं इस ग्रंथ में कहा है–

उक्किट्ठपुण्णफलेण, अरिहावत्थं पावंते भव्वा।
लहंति सिद्धगदिं पुण णासिदूणं सव्वपुण्णं वि।।2।।

भव्य जीव उत्कृष्ट पुण्य के फल से अरिहंत अवस्था को प्राप्त करते हैं। पुन: सर्व पुण्य को भी नष्ट कर सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं।

आणपाणाइ-पाणा, आवसिया जह जीवेदुं तहेव।
दुक्खक्खयिदुमुक्किट्ठ-पुण्ण-मावसियं सिवपयस्स।।4।।

जैसे जीने के लिए श्वासोच्छ्वास आदि प्राण आवश्यक होते हैं उसी प्रकार दु:ख के क्षय और शिव पद के लिए पुण्य भी आवश्यक होता है।

कंखासहिदं पुण्णं, संसारवड्ढगं हवेदि कयाइ।
णिक्कंखपुण्णं सया, मोक्ख-कारणं मुणेदव्वं।।7।।

आकांक्षा सहित पुण्य कदाचित् संसारवर्द्धक होता है किन्तु नि:कांक्ष पुण्य सदा मोक्ष का कारण जानना चाहिये।

पुनः आचार्य भगवन् ने पुण्यास्रव के कारणों को निरूपित किया उन्होंने कहा "धर्मानुरक्ति, जिनभक्ति, पूजा, वंदना, साधु-सेवा, सुपात्र दान, वैय्यावृत्ति, तीर्थयात्रा, सत्संगति, श्रुत में रति, तत्त्वरुचि, तत्त्वचिंतन, रात्रिभोजन त्याग, जलगालन, परोपकार, शुभध्यान, अनुप्रेक्षादि भावनाएँ इत्यादि सभी पुण्यास्रव के हेतु हैं। पुनः इन सभी का पृथक्-पृथक् बहुत सुंदर प्ररुपण आचार्य श्री ने ग्रंथ में किया। यथा

तिलोए रयणं व जिण-मप्पविहवजुत्तं तिलोयपुज्जं।
तिसंझाए जोगेहि, अच्चदि होदि तिलोयपुज्जो॥20॥

जो तीनों लोकों में रत्न के समान, आत्मा के वैभव से युक्त, त्रैलोक्य पूज्य जिनेन्द्र भगवान् की तीन योग से, तीनों संध्यकालों में अर्चन करता है वह त्रिलोकपूज्य होता है।

सद्धाइ सत्तठाणे, पालिदव्वं मोणवदं वदीहिं।
मोणवदेण होदि सुद-केवली केवली णियमेण॥28॥

व्रतियों के द्वारा श्रद्धा से सप्त स्थानों में मौन पालन किया जाना चाहिये। मौनव्रत से जीव नियम से श्रुतकेवली व केवली होता है।

उववासेणं रोया, खयंति अणिट्ठं-संजोग-दुहाणि य।
लहंति इंदिय-सोक्खं, सुकित्तिं वित्तं भवसोक्खं॥104॥

उपवास से रोग, अनिष्ट-संयोग व दुःख नष्ट होते हैं। जीव इंद्रिय सुख, निर्मल कीर्ति, धन व संसार सुख को प्राप्त करते हैं।

ग्रंथ की प्रत्येक गाथा स्मरणीय व पुण्य की प्रेरिका है। यह ग्रंथ वास्तव में पुण्यास्रव का निलय वा भवन रूप है। जिसका अध्ययन कर प्रतीत होता है कि जैसे पुण्य के निलय में ही प्रवेश कर लिया हो। यह पापों से भीति व पुण्य में प्रीति उत्पन्न कराने में समर्थ है। इसका अध्ययन, स्वाध्याय निःसंदेह पुण्य की शीतल छाँव में ले जाने में समर्थ है।

पूज्य आचार्य भगवन् की लेखन की सामर्थ्य वास्तव में अद्भुत है। जो 15 दिन में ही समस्त सिद्धांत से परिपूरित 92 से अधिक छंदों में श्री

सर्वतोभद्र महामण्डलविधान की रचना कर सकते हैं, जो एक दिन में प्राकृत की 100 से अधिक गाथाओं का लेखन करा सकते हैं। हिन्दी भाषा में भी इतने काव्य की रचना एक दिन में संभव सी प्रतीत नहीं होती किन्तु आचार्य भगवन् छंद बद्ध काव्यों की रचना किस प्रकार इतनी शीघ्र कर लेते हैं यह अत्यंत विस्मयकारी ही है।

प्रस्तुत ग्रंथ **'पुण्णासव-णिलयो'** (पुण्यास्रव निलय) भी गाथा छंद में निबद्ध है। जिसके प्रथम चरण में 12, दूसरे चरण में 18, तीसरे चरण में 12 व चतुर्थ चरण में 15 मात्रायें होती हैं। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्य भगवन् का ज्ञान महासागर के समान अथाह है। धन्य हैं गुरुवर जो अव्याबाध रूप से ग्रंथों का लेखनकर जैन वाङ्मय को संवर्धित कर रहे हैं, उसे और अधिक सशक्त बना रहे हैं और साथ ही प्राकृतभाषा को पुनः जीवंतता दिलाने में संलग्न हैं।

यदि इस ग्रंथ के संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें। हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से ग्रंथाध्ययन करें। जन-जन के श्रद्धापुंज परमपूज्य अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज का संयम, तप, ज्ञान, साधना का सौरभ सहस्रों वर्षों तक सम्पूर्ण विश्व को सुरभित करता रहे। गुरुवर श्री को आरोग्य लाभ हो एवं अपने लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करें। परमपूज्य गुरुवर श्री के चरणों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु! .....।।

जैनम् जयतु शासनम्

श्री शुभमिति कार्तिक शुक्ल एकादशी
श्री वीर निर्वाण संवत् 2548
सोमवार 14-11-2021
श्री सिद्धक्षेत्र तारंगा जी (गुजरात)

आर्यिका वर्धस्वनंदनी

पुण्णसव-णिलयो - एक अवलोकन

जीव संसार में हैं, वह संसारी है। पुण्य और पाप का यहाँ संयोग बना हुआ है। पुण्य और पाप दोनों संसार में जीव प्राप्त कर रहा है। प्रत्येक समय कर्मों का आस्रव कर रहा है। प्राय:कर यह संसारी जीव पाप की क्रियाओं में अधिक प्रवृत्ति कर रहा है। पुण्य में प्रवृत्ति उसकी बहुत ही कम है, क्योंकि पुण्यवर्धिनी क्रियाओं में उसकी दृढ़ता कहाँ है? अत्यंत सरल मार्ग को प्रत्येक जीव चाहता है, कठिनता उसे कहाँ भाती है? जैसाकि छहढालाकार लिखते हैं कि सुख चाहतैं दु:खतैं भयवंत। सुख चाहते हैं और दु:ख से डरते हें, परंतु हम कार्य दु:ख प्राप्त हो ऐसे करते हें तो सुख कैसे मिलेगा? विचार कीजिए। परम पूज्य सिद्धांत चक्रवर्ती राष्ट्रसंत श्वेतपिच्छाचार्यश्री विद्यानंदजी मुनिमहाराज के आशीर्वाद से आचार्यश्री वसुनंदी मुनि महाराज ने प्राकृत भाषा में निबद्ध पुण्णासव-णिलयो नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

पुण्य की महत्ता बताते हुए आचार्यश्री लिखते हैं –

आणपाणाइ पाणा अवसिया जह जीवेदुं तहेव।
दुक्खक्खयिदुमुक्किट्ठं पुण्ण मावसियं सिपयस्स॥

जिस प्रकार से जीने के लिए श्वाासोच्छवास आवश्यक है, उसी प्रकार से दु:ख क्षय के लिए और शिव पद के लिए पुण्य आवश्यक है। पुण्य शब्द के एकार्थवाची शब्दों को बताते हुए लिखते हैं – पुण्य, पूत, मंगल, इष्ट, चोखा, पवित्र, कल्याण, भद्र, हित, क्षेम, सुखकर, शुभ और पापहारक ये सब एकार्थवाची हैं। पुण्य के महत्त्व को प्रकट करते हुए लिखते हैं – जिनेन्द्र भगवान के गुणों में अनुराग, जिनेन्द्र स्तुति, कीर्तन, वंदना व भक्ति भव्यों को भवसागर को पार करने के लिए नौका के समान है।

पुण्यास्रव निलय में पुण्य की विशेषताएँ बतलाते हुए पुण्य किन माध्यमों से प्राप्त होता है इस विषय पर भी प्रकाश डाला गया है। साधुसेवा, दान, अभक्ष्य त्याग, उपवास, तीर्थयात्रा, मौन, व्रत-पालन, श्रावक तप, धर्म प्रभावना,

तत्त्वचिंतन, वैराग्य, परोपकार, रात्रिभोजन त्याग, कर्त्तव्यपालन, धर्मानुरक्ति, प्रशमभाव, समाधिभावना आदि। अन्त में पुण्य के फल की चर्चा की गई हे, जिसमें कहा है–त्रस पर्याय, मनुष्य गति, संज्ञित्व, उच्चकुल, दीर्घायु, निरोगी देह, उत्कृष्ट संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, शुभ सुरूप सुभग, सुस्वर, आदेय, तीर्थंकर यशकीर्ति आदि शुभ प्रकृतियों विपुल धन बहुवैभव, यथेच्छ, भोज्यसामग्री, मनोहारिणी स्त्री, पुत्री, आज्ञाकारी पुत्र, पुत्री, धन-धान्य, सुसेवक, लोकप्रतिष्ठा, पूजा सत्कार, दुर्ग, सेना, राज्य हाथी अश्व व रथादि वाहन पुण्य के फल है। पाप के फलों की चर्चा यहाँ पर की गई है। आचार्यश्री शांतिसागरजी महाराज से लेकर आचार्यश्री विद्यानंदजी मुनिराज के प्रति भक्ति प्रकट करते हुए कृतिकार ने रचना का समय आदि उल्लेख करते हुए ग्रन्थ को समाप्ति की घोषणा की है।

यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। मैं मानता हूँ प्रत्येक श्रावक को अवश्य पढ़ना चाहिए। इस ग्रन्थ को पढ़ने से पुण्य में प्रवृत्ति होगी और पाप से निवृत्ति होगी। हम मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त होंगे। पूज्यश्री का यह महान् उपकार हम सभी जीवों पर हैं, जिन्होंने इस उत्कृष्ट कृति को रचा है। कोटि कोटि नमोस्तु...

आयतस्तुः

डॉ. आशीष जैन आचार्य, शाहगढ़

(राष्ट्रपति सम्मानित)

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	गाथा सं.	पृष्ठ सं.
1.	मंगलाचरण	1	01
2.	पुण्य की महत्ता	2-5	01
3.	ग्रंथ कथन प्रतिज्ञा	6	02
4.	साकांक्ष व निःकांक्ष पुण्य	7-8	02
5.	पुण्याश्रय	9	03
6.	पुण्य के पर्यायवाची	10	03
7.	पुण्य हेतु	11-17	03
8.	जिनेन्द्रार्चना	18-28	05
9.	साधु सेवा	29-44	07
10.	दान	45-61	11
11.	रात्रि भोजन त्याग	62-68	15
12.	जीवदया	69-84	16
13.	न्यायार्जित धन	85-92	19
14.	अभक्ष्य त्याग	93-99	21
15.	उपवास	100-105	23
16.	णमोकार मंत्र	106-115	24
17.	तीर्थयात्रा	116-126	26
18.	मौन	127-131	28
19.	व्रत पालन	132-140	29
20.	अनर्थदंड त्याग	141-143	31
21.	श्रावक तप	144-146	32
22.	धर्म प्रभावना	147-152	33
23.	तत्त्व चिंतन	153-158	34
24.	वैराग्य	159-161	35
25.	परोपकार	162-163	36
26.	कर्त्तव्य पालन	164-165	36
27.	धर्मानुरक्ति	166-176	37
28.	प्रशम भाव	177-186	39
29.	समाधि भावना	187-195	41
30.	पुण्य फल	196-203	43
31.	पुण्य उपादेय क्यों	204-208	44
32.	पाप के पर्यायवाची	209	45
33.	पुण्य नष्ट होने पर मोक्ष	210	45
34.	पुण्य पाप विचार विमर्श	211-221	46
35.	अंतिम मंगलाचरण	222-226	48
36.	प्रशस्ति	227-228	49

पुण्णासव-णिलयो

(पुण्यास्रव निलय)

मंगलाचरण

केवलणाण-मिहिरो य, जस्स उदिदो तियभुवणपुज्जं तं।
तित्थयरं हु वरपुण्ण-फलजुदं पुण्णफलाय थुवमि॥1॥

जिनके केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय हुआ है, उन तीनों लोकों में पूज्य, उत्कृष्ट पुण्य के फल से युक्त श्री तीर्थंकर भगवान् की स्वयं पुण्य के फल की प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ।

पुण्य की महत्ता

उक्किट्ठपुण्णफलेण, अरिहावत्थं पावंते भव्वा।
लहंति सिद्धगदिं पुण, णासिदूणं सव्वपुण्णं वि॥2॥

भव्य जीव उत्कृष्ट पुण्य के फल से अरिहंत अवस्था को प्राप्त करते हैं। पुनः सर्व पुण्य को भी नष्ट कर सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं।

जह अक्कुदयेण विणा, तमं खयदि ण विहसंति पुप्फाणि ण।
पुण्णं विणा ण मिच्छं, णेव तह अप्पगुणा कमेण॥3॥

जैसे सूर्योदय के बिना अंधकार नष्ट नहीं होता है एवं पुष्प विकसित नहीं होते। उसी प्रकार पुण्य के बिना क्रम से मिथ्यात्व नष्ट नहीं होता एवं आत्म गुण विकसित नहीं होते।

आणपाणाइ-पाणा, आवसिया जह जीवेदुं तहेव।
दुक्खक्खयिदुमुक्किट्ठ-पुण्ण-मावसियं सिवपयस्स॥4॥

जैसे जीने के लिए श्वासोच्छ्वास आदि प्राण आवश्यक होते है उसी प्रकार दु:ख के क्षय और शिव पद के लिए पुण्य भी आवश्यक होता है।

जलं विणा जह मीणो, णिराउलत्तेण जीविदु-मसक्को।
तहेव पुण्णकज्जेहि, विणा णेव दु सम्माइट्ठी॥5॥

जैसे जल के बिना मछली निराकुलता से जीने में शक्य नहीं है उसी प्रकार पुण्य कार्यों के बिना सम्यग्दृष्टि भी निराकुल रहने में समर्थ नहीं है।

ग्रंथ कथन प्रतिज्ञा

सुपुण्णं परंपराइ, मुत्ति णियामग-कारणं जिणुत्तं।
तं पुण्णासव-णिलयं, कित्तिस्सामि सव्वहिदत्थं॥6॥

श्रेष्ठ पुण्य परंपरा से मुक्ति का नियामक कारण है, ऐसा जिनेंद्र भगवान् ने कहा है। उस पुण्यास्रव निलय को यहाँ सबके हित के लिए कहूँगा।

साकांक्ष व नि:कांक्ष पुण्य

कंखासहिदं पुण्णं, संसारवड्ढगं हवेदि कयाइ।
णिक्कंखपुण्णं सया, मोक्ख-कारणं मुणेदव्वं॥7॥

आकांक्षा सहित पुण्य कदाचित् संसारवर्द्धक होता है। किन्तु नि:कांक्ष पुण्य सदा मोक्ष का कारण जानना चाहिए।

भवे इट्ठफल-हेदू, असुहुवजोगजणिदपुण्णं णियमा।
सिवहेदू सुहुवजोग-जणिद-णिदाणरहिद पुण्णं त्ति॥8॥

अशुभ उपयोग से उत्पन्न पुण्य संसार में इष्ट फल का हेतु है। जबकि शुभोपयोग जनित निदान से रहित पुण्य मोक्ष का हेतु है।

पुण्याश्रय

अप्पं करेदि पूदो, पुण्णं जं तं देदि इट्ठत्था हु।
भव-सायरे दोणीव, पुण्ण-मासयेज्ज भव्वुल्ला॥9॥

जो आत्मा को पवित्र करता है, इष्ट वस्तुएँ प्रदान करता है वह पुण्य है। संसार रूपी सागर में नौका के समान उस पुण्य का भव्यों को आश्रय लेना चाहिए।

पुण्य के पर्यायवाची

पुण्णं पूदं मंगल-मिट्ठं चोक्खं कल्लाणं भद्दं।
हिदं खेमं सुहयरं, सुहं अघहरं च एयट्ठो॥10॥

पुण्य, पूत, मंगल, इष्ट, चोखा (पवित्र), कल्याण, भद्र, हित, क्षेम, सुखकर, शुभ और पापहारक ये एकार्थवाची हैं।

पुण्य हेतु

मंदकसायेण सरल-जोगेहि जीवा अज्जंति पुण्णं।
रयणत्तयजुदरागो, पुण्णस्स उक्किट्ठ-हेदू हु॥11॥

जीव मंदकषाय व सरल योगों से पुण्य का अर्जन करते हैं। रत्नत्रय से युक्त राग निश्चय से पुण्य का उत्कृष्ट हेतु है।

विरागी संवेगी य, अणुमहव्वदिगयरायछउमत्था।
पुण्णुक्किट्ठ-मज्जंति, सुहलेस्साहि संजमेणं च॥12॥

वैरागी, संवेगी, अणुव्रती, महाव्रती व वीतराग छद्मस्थ शुभ लेश्याओं व संयम से उत्कृष्ट पुण्य का अर्जन करते हैं।

धम्मणुरत्ती जिणवर-भत्ति-पूयण-वंदण-साहुसेवा।
सुहपत्ताणं दाणं, वेज्जावच्चं तित्थजत्ता॥13॥
सज्जणाणं संगदी, सुसत्थेसुं रदी सुतवम्मि रुई।
तच्चचिंतण-सुझाणं, पुण्णफलं बंधकारणं वि॥14॥

धर्मानुरक्ति, जिनवर भक्ति, पूजा, वंदना, साधु-सेवा, सुपात्रों के लिए दान, वैय्यावृत्ति, तीर्थयात्रा, सज्जनों की संगति, सुशास्त्रों में रति, सुतप में रुचि, तत्त्व चिंतन व शुभ ध्यान पुण्य के फल हैं और तीव्र पुण्य बंध के हेतु भी हैं।

सरागसम्मत्तजुत्त-भत्ती थुदी सुदं वदं तवो तह।
सम्मत्तस्स वसुगुणा, लक्खणंगा णाणं चरियं॥15॥
बारसणुवेक्खा सट्ठि-भावणा पालिदुं णिद्दोसवदं।
तच्चचिंतणं सोलस-कारणभावणा इच्चादी॥16॥
अण्णा वि मुक्ख-हेदू, सावगाणं, कल्लाणत्थं तहा।
पुण्णहीणणरो कहं, होदि समत्थो तं करिदुं॥17॥

सराग सम्यक्त्व से युक्त भक्ति, स्तुति, श्रुत, व्रत, तप, सम्यक्त्व के आठ गुण, लक्षण, अंग, ज्ञान, चारित्र, द्वादश अनुप्रेक्षा, निर्दोष व्रतों का पालन करने के लिए साठ भावना, तत्त्वचिंतन तथा सोलह कारण भावना इत्यादि अन्य भी श्रावकों के कल्याण के लिए मुख्य हेतु हैं। पुण्य से हीन (पापी) पुरुष इन्हें करने में कैसे समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

जिनेंद्रार्चना

चउघाइकम्मरहिदं, गदराय-सणंतचउक्कं वंदे।
णिस्सीम-सुहमिय-विट्टि-कारगं भववणदाहगं च॥18॥

चारों घातिया कर्मों से रहित, वीतरागी, अनंत चतुष्टय से सहित, नि:सीम सुखामृत की वृष्टि करने वाले, संसार रूपी वन को जलाने वाले जिनेंद्र देव की वंदना करता हूँ।

भव-उदहिं णित्थरिदुं, जे पणमंते जिणपादपउमेसु।
भव्वुल्ला ते णेया, चूडामणी विवेगेसुं दु॥19॥

जो भव्य जीव संसार रूपी सागर को पार करने हेतु जिनेंद्र भगवान् के पद कमलों में प्रणाम करते हैं वे विवेकी जनों में चूड़ामणी जानने चाहिए।

तिलोए रयणं व जिण-मप्पविहवजुत्तं तिलोयपुज्जं।
तिसंझाए जोगेहि, अच्चदि होदि तिलोयपुज्जो॥20॥

जो तीनों लोकों में रत्नके समान, आत्मा के वैभव से युक्त, त्रैलोक्य पूज्य जिनेंद्र भगवान् की तीन योग से, तीनों संध्याकालों में अर्चन करता है वह त्रिलोकपूज्य होता है।

जिणणामसुमरणेणं, अघं खयदि जह रविकिरणेहि तमं।
ते हु आसण्णभव्वा, जे णियचित्ते ठवंति जिणं॥21॥

जैसे सूर्य की किरणों से अंधकार का नाश होता है उसी प्रकार जिनेंद्र भगवान् के नाम स्मरण से पापों का क्षय होता है। जो अपने चित्त में जिनेंद्र भगवान् को स्थापित करते हैं वे निश्चय से आसन्न भव्य हैं।

जिणगुणेसु अणुरागो, जिणथुदी कित्तणं वंदण-भत्ती।
तरणीव भव्वुल्ला हु, णित्थारिदुं सय भव-सिंधुं॥22॥

जिनेंद्र भगवान् के गुणों में अनुराग, जिनेंद्र स्तुति, कीर्तन, वंदन व भक्ति भव्यों को भव-सागर को पार करने के लिए नौका के समान है।

जस्स चित्तं ण रंजदि, जिणभत्तीइ सो दीह-संसारी।
भत्ती मुत्ति-कारणं, सव्वाणंदसुहसंतीणं॥23॥

जिसका चित्त जिनेंद्र भक्ति में रंजायमान नहीं होता, वह दीर्घ संसारी जानना चाहिए। जिनेंद्र भक्ति सर्व आनंद, सुख, शांति व मुक्ति की कारण है।

अइसायणेण लहुगुण-कहणं जह रायिकाए मेरुव्व।
जाण जिणथुदी तह तं, छउमत्थो ण करिदुं सक्को॥24॥

राई के दाने को मेरु पर्वत कहने के समान लघु गुणों को उत्कृष्टता से अर्थात् बढ़ाचढ़ाकर कहना स्तुति जाननी चाहिए। उस जिन स्तुति को छद्मस्थ करने में समर्थ नहीं हैं।

सुद्धभावजुदेग-जिणभत्ती पूरिदुं मणोरह-सव्वं।
खये पावविग्घाणं, वरपुण्ण-पावणे समत्था॥25॥

शुद्ध भावों से युक्त एक जिनभक्ति ही सर्व मनोरथ पूर्ण करने में, पाप व विघ्नों के क्षय में एवं उत्कृष्ट पुण्य प्राप्त करने में समर्थ है।

दुग्गदीइ अग्गलोव्व, भविंधणं कुलुंचिदु-मग्गीव तह।
कुहाडीव जिणभत्ती, छिंदेदुं सय कम्मरुक्खं।।26।।

जिनेंद्र भक्ति दुर्गति के लिए अर्गला के समान है, संसार रूपी ईंधन को जलाने के लिए अग्नि के समान है तथा कर्म रूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है।

रयणाण रयणायरो, जह तह जिणभत्ती गुणरयणाणं।
अक्को सोसदि णीरं, जिणदंसणं पावपंकं च।।27।।

जैसे रत्नों के लिए रत्नाकर है उसी प्रकार गुण रूपी रत्नों के लिए जिनभक्ति है। जैसे सूर्य जलको अवशोषित करता है उसी प्रकार जिनदर्शन पाप रूपी कीचड़ को सुखा देता है।

जो को वि तियसंझासु, सुमरदि पणववीयक्खरं णिच्चं।
ठविय हिये परमेट्ठिं, वंदणेण वंदणीयो सो।।28।।

जो कोई भी भव्य नित्य तीनों संध्याकालों में परमेष्ठी भगवन् को हृदय में स्थापित कर प्रणव बीजाक्षर का स्मरण करता है, वह परमेष्ठियों का वंदन करने से स्वयं वंदनीय होता है।

साधु-सेवा

चक्किणा चिम छक्खंड-जयंव णियड-भवी साहु-सेवाइ।
समत्थो सेवा देदि, तुट्ठिं मेहोव्व भूमीए।।29।।

जिस प्रकार चक्रवर्ती ही छः खंडों को जीतने में समर्थ होता है उसी प्रकार निकट भव्य ही साधु-सेवा में समर्थ होता है। जैसे बादल धरती को तुष्टि देते हैं उसी प्रकार साधु सेवा भव्य को तुष्टि देती है।

साहुवंदणेण भवी, संजमं पावदि कम्मक्खयेदुं।
ताण पदरयं धरदे, णियसिरे होज्ज इंदपुज्जो॥30॥

साधुओं के वंदन से भव्य जीव कर्म क्षय करने के लिए संयम को प्राप्त करता है। जो उनकी पद-रज अपने सिर पर धारण करता है वह इंद्रों के द्वारा पूज्य होता है।

साहु-सेवाइ फलेण, इह भवे लहदि सुजस-मप्पसंतिं।
वज्जुसहणारायणं, णिरोयिदेहं परभवम्मि य॥31॥

साधुओं की सेवा के फल से जीव इस भव में निर्मल यश व आत्मशांति प्राप्त करता है। एवं परभव में निरोगी देह व वज्रवृषभनाराच संहनन प्राप्त करता है।

साहुपदवंदणेणं, पावदि मदणोव्व रूवमुच्चकुलं।
पदपक्खालणेणं हु, पक्खालदि सतिव्वपावाणि॥32॥

साधुओं की चरण वंदना से जीव कामदेव के समान सुंदर रूप व उच्च कुल प्राप्त करता है। उनके चरणों के प्रक्षालन से वह भव्य अपने तीव्र पाप कर्मों का ही प्रक्षालन करता है।

जावइय-आणंदं ण, लहदि पस्सित्तु पइडि-चित्ताणि जह।
तादो अहियाणंदो रुक्ख-पव्वय-णिज्झरादिं च॥
तह बहुमुत्ती पूयिय, जं आणंदं लहदि सज्जणो णो।
तादु असंखेज्जगुणो, आणंदं साहु-पूयणेण॥34॥

जिस प्रकार व्यक्ति जितना आनंद प्रकृति के चित्रों को देखकर प्राप्त नहीं करता उससे अधिक आनंद वृक्ष, पर्वत, झरने आदि को देखकर प्राप्त करता है उसी प्रकार सज्जन जो आनंद बहुत मूर्तियों को पूजकर प्राप्त नहीं करता उससे असंख्यात गुना आनंद साधु पूजन से प्राप्त करता है।

जह देदि कप्परुक्खो, जाइदत्थं तह अवि साहुसेवा।
चिंतामणि-रयणं वा चिंतिदत्थं पुण्णवंताण।।35।।

जैसे कल्पवृक्ष याचना की गई वस्तु को प्रदान करता है व चिंतामणि रत्न चिंतित वस्तुओं को प्रदान करता है। उसी प्रकार पुण्यवानों के लिए साधु सेवा जाननी चाहिए।

पढम-करण-चरण-दव्व-अणुजोगा धेणुथणं व जाणेज्ज।
जिणवयणं दु खीरं व, अप्पपुट्ठिकारगं णिच्चं।।36।।

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग; ये चार अनुयोग गाय के स्तन के समान जानने चाहिए। जिनेंद्र वचन दुग्ध के समान नित्य आत्मपुष्टिकारक हैं।

रुक्खा मेहवरिसाइ, जह वड्ढंति कोआसंति फलंति।
जिणवरवयणेहिं तह, सम्मत्तादी-अणंतगुणा।।37।।

मेघवृष्टि से जैसे वृक्ष वृद्धिंगत होते हैं, विकसित होते हैं, फलित होते हैं उसी प्रकार जिनेंद्र भगवान् के वचनों से सम्यक्त्वादि अनंत गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

दीवोव्व जिणवयणं हु, पयासेण विणा ण लहिदुं सक्को।
गेहे ठविद-वत्थुं वि, जह तह णाणं विणा सिद्धिं।।38।।

जिनवचन दीपक के समान हैं। जिस प्रकार प्रकाश के बिना घर में रखी वस्तु को भी प्राप्त करने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार ज्ञान के बिना सिद्धि प्राप्त (स्वात्मोपलब्धि) करने में भी समर्थ नहीं होता।

आदवं समणिदुं जह, अवगाहदि सरिदाए तह जीवो।
जिणवयण-तरंगिणीइ, समणिदुं संसारादवं च।।39।।

जैसे ताप के शमन के लिए जीव नदी में अवगाहन करता है उसी प्रकार संसार ताप के शमन के लिए जीव जिनवचन रूपी नदी में अवगाहन करता है।

जह णदी मल-खालगा, तह अप्पमलस्स अवि जिणवयणं हु।
उदहीइ रयणाणि जिणवयणेण फुरंति अप्पगुणा।।40।।

जैसे नदी मल का प्रक्षालन करने वाली होती है उसी प्रकार जिनवचन आत्ममल का क्षालन करने वाले होते हैं। जैसे सागर से रत्न प्रकट होते हैं उसी प्रकार जिनवचन से आत्म गुण प्रकट होते हैं।

मादू जणदि रक्खेदि, पोसेदि जह णिय-सव्वसंताणं।
तह जिणगी भव्वा खलु, धम्मखेत्ते वि देदि सिवं च।।41।।

जैसे माता अपनी सभी संतानों को जन्म देती है, रक्षा करती है, पोषण करती है उसी प्रकार जिनेंद्र वाणी भी भव्यों को धर्मक्षेत्र में जन्म देती है, रक्षा करती है, पोषण करती है व पुनः मोक्ष देती है।

सज्झायेण विरत्ती, चित्तेगग्गो अहसंवरो होज्ज।
वड्ढंति तव-संवेग-संजम-वच्छल-खमाइ-गुणा।।42।।

स्वाध्याय से विरक्ति होती है, चित्त एकाग्र होता है व पापों का संवर होता है। स्वाध्याय से तप, संवेग, संयम, वात्सल्य व क्षमादि गुण वृद्धिंगत होते हैं।

दुह-संकिलेसहारग-विसुद्धिकारग-सज्झायम्मि जदि हु।
चित्तेगग्गो य देदि, रयणत्तयं च मोक्खसुहं वि।।43।।

दु:ख व संक्लेश के हारक एवं विशुद्धिकारक स्वाध्याय में यदि चित्त एकाग्र होता है तो वह रत्नत्रय व पुन: मोक्ष सुख भी देता है।

सुहासवासुहसंवर-बहुपुण्णाणं हेदू सज्झाओ।
वदीण णिज्जराए वि, परंपराए णिव्वाणस्स।।44।।

स्वाध्याय शुभास्रव, अशुभ के संवर व बहुत पुण्यों का हेतु है। वह व्रतियों की निर्जरा का व परंपरा से निर्वाण का हेतु भी है।

दान

सुदाणेणं दायगो, लहदि तह भुंजिदु-मुक्किट्ठवत्थुं।
जह मेहो देदि जलं, पावदे मुह-धवलत्तं पुण।।45।।

शुभदान से भोगने के लिए उत्कृष्ट वस्तु को दाता उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे मेघ जल देता है व पुन: मुख की धवलता को प्राप्त करता है।

मुंचदि जिण्णपत्ताणि, पावदि णवकोरयपत्तपुप्फाणि।
पाणवाउ-चागेणं, आणवाउं लहदि रुक्खो हु।।46।।

वृक्ष जीर्ण पत्तों को छोड़ता है एवं नूतन कोरक (फलोत्पादक मुकुल), पत्ते व पुष्पों को प्राप्त करता है। वह प्राणवायु (O_2) के त्याग से आनवायु (CO_2) ग्रहण करता है।

पइडीइ णिच्च-णियमो, दाणं विणा णो को वि उवलद्धी।
तं पइडि-दाणसीला, सव्वहिदत्थं दाणं दाएज्जा।।47।।

दान के बिना कोई भी उपलब्धि नहीं होती है। यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। अत: प्रकृति दानशीला है। सर्व हित के लिए सदा दान देना चाहिए।

दत्तं सुपत्तदाणं, भत्तीइ सत्तगुणेहि सुह-हेदू।
दायगो भोयभूमिं, सुरसुहं कमेण सिवं लहदि।।48।।

सप्तगुणों व नवधा भक्ति से दिया गया सुपात्र दान सुख का हेतु है। दाता भोगभूमि, देवों के सुख पुन: क्रम से मोक्ष प्राप्त करता है।

पत्तदाणेण लहंति, विउलभोयं णरिंद-सुरिंदाणं।
होज्ज णाणदाणेणं, सुदकेवली दु केवली वा।।49।।

पात्रदान से जीव नरेंद्र व सुरेंद्र के विपुल भोग प्राप्त करते हैं। ज्ञान दान से जीव श्रुतकेवली अथवा केवली होते हैं।

अभयदाणेण अभयं, वसदिगा-दाणेण उत्तमभवणं।
ओसहिदाणेण लहदि, णिरोयिं सुमरोव्व-सरीरं।।50।।

जीव अभयदान से अभय (प्राणदान), वसतिका दान से उत्तम भवन, औषधि दान से निरोगी व कामदेव के समान शरीर को प्राप्त करता है।

दाणेण जसं संतिं, भवसुहं तणसुहं दायगो लहदि।
जगपुज्जत्तं सिवं च, ते पुण्णस्स पहाणहेदू।।51।।

दान से यश, शांति, भवसुख, देहसुख, संसार में पूज्यपना व मोक्ष को प्राप्त करता है। वह दान पुण्य का प्रधान हेतु है।

दाणं दरिद्दत्तं च, अण्णाणं सव्वदुक्खं खवदे हु।
सम्मत्ताइ-गुणाणं, विसुद्धीए कारणं जाण।।52।।

दान दरिद्रता, अज्ञान व सर्व दु:ख नष्ट करता है एवं उसे सम्यक्त्वादि गुणों की विशुद्धि का कारण जानो।

दायग-हत्थं हवदि, दाणसमयाम्मि: पत्तकसवरि सया।
पत्ततित्थयरो वि जदि, पहावो अयं हु दाणस्स।।53।।

दान देते समय दाता का हाथ सदा पात्र के हाथ के ऊपर होता है और यदि पात्र तीर्थंकर भी हो, तो भी। यह निश्चय से दान का ही प्रभाव जानो।

अगालिद-जले असंख-जीवरासी णियमेण विज्जेदि।
गालिदं जीवरक्खिदु- मुवउंजेज्ज पुण्णमंत्ताण।।54।।

बिना छने जल में नियम से असंख्य जीवराशि होती है। जीव रक्षा के लिए पुण्यवानों को छने जल का ही प्रयोग करना चाहिए।

पासाणं फोडित्ता, णिग्गद - जलं वा तत्त-वावीए।
जंतेण आलोडिदं, गहणीयं ण्हाण-सुद्धीए।।55।।

पाषाण को फोड़कर निकला हुआ जल अथवा तप्त वापी का जल अथवा यंत्र से आलोडित जल स्नान व शुद्धि के लिए ग्रहण करना चाहिए।

जावइय-जंतू वणे, तावइय-जीवा एयबिंदुजले।
उवउंजदु विवेगेण, जलं सया ताण रक्खाए।।56।।

वन में जितने जंतु होते हैं, उतने जीव एक बूंद जल में होते हैं। अत: उनकी रक्षा के लिए जल का विवेक से उपयोग करना चाहिए।

जलं जीवणं मण्णे, तं ण खयदु अणावस्सगरूवेण।
वंसादी णो वड्ढदि, दुरुवजोगेण जलादीणं।।57।।

जल जीवन माना जाता है। उसे अनावश्यक रूप से नष्ट नहीं करना चाहिए। जल इत्यादि के दुरुपयोग से वंश आदि की वृद्धि नहीं होती।

दरिद्दत्तं रोयं दु, इट्ठविजोग-मणिट्ठसंजोगं च।
जीवो लहदि दोत्थस्स, दुह-मगालिदजलुवजोगेण।।58।।

बिना छने हुए जल के उपयोग से जीव दरिद्रता, रोग, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग व दुर्गति के दु:ख को प्राप्त करता है।

मेरुस्स पोग्गलणूण, सायरस्स जलबिंदूण जह को वि।
णेव गणणे समत्थो, तह पुण्णं जीवरक्खाए।।59।।

जिस प्रकार मेरु पर्वत के पुद्गल परमाणु व सागर की जलबूंदों को गिनने में कोई समर्थ नहीं है उसी प्रकार जीव रक्षा के पुण्य की गणना करने में भी कोई समर्थ नहीं है।

जो अगालिदं णीरं, पिवदि जाणंतो वि सो कसायेण।
चिरंत-मइदुहं लहदि, अणंतजीवघादत्तादो।।60।।

जो जानते हुए भी कषाय से बिना छने हुए जल को पीता है वह अनंत जीव का घात होने से चिरकाल तक अति दु:ख को प्राप्त करता है।

एगजीवस्स पाणं वि, जो रक्खेदि सुहपुरिसट्ठेणं।
सो लहदि अहियपुण्णं, मेरुव्व सुवण्णदाणादो।।61।।

जो जीव अपने शुभ पुरुषार्थ से एक जीव के प्राण की भी रक्षा करता है वह मेरु पर्वत के समान स्वर्ण दान से भी अधिक पुण्य को प्राप्त करता है।

रात्रिभोजन त्याग

रत्तिभोयण-चागेण, होंति णागिंदिंदा-लोयपाला।
भोयभूमि-सग्गाणं, सुहाणि भुंजिय लहंति सिवं॥62॥

रात्रि भोजन त्याग से पुण्यवान् नागेंद्र, इंद्र व लोकपाल होते हैं। पुनः भोगभूमि व स्वर्गों के सुखों को भोगकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

णिसिभोयण-चागेणं, लहंते रायाहिरायाइ-पदं ।
चक्कि-अद्धचक्कीणं, होज्जा तित्थयरो कमेणं॥63॥

रात्रि भोजन त्याग से पुण्यवान् राजा, अधिराजा, चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती के पद प्राप्त करते हैं व क्रम से तीर्थंकर होते हैं।

रम्म-अस्स-गय-णवणिहि-चउदहरयणाणि-पावंति जीवा।
जमरूवेण चउविहाहार-चागेणं रत्तीए॥64॥

रात्रि में यम रूप से चारों प्रकार के आहार के त्याग से जीव रमणीय अश्व, गज, नवनिधि व चौदह रत्न प्राप्त करते हैं।

रत्तिभोयणेण लहदि, रोयि-वियलंग-तणं दरिद्दत्तं।
णीयकुलं दुब्भग्गं, खणे खणे घोरदुक्खाइं॥65॥

रात्रि भोजन से जीव रोगी व विकलांग शरीर, दरिद्रता, नीच कुल, दुर्भाग्य तथा क्षण-क्षण में घोर दुःख प्राप्त करता है।

णिम्मल-कित्तिं णिरोयि-सरीरं तह इंदिय सुहं विउलं।
दिव्ववत्थभूसणाणि, रत्तिभोयणचागेण लहदि॥66॥

रात्रि भोजन त्याग से जीव निर्मल कीर्ति, निरोगी, शरीर, विपुल इंद्रिय सुख, दिव्य वस्त्र व आभूषणों को प्राप्त करता है।

चउविहासण-चागेण, रत्तीए पावदि संवच्छरम्मि।
छम्मासाणं णिज्जल-उववासफलं पुण्णवंतो॥67॥

रात्रि में चारों प्रकार के आहार के त्याग से पुण्यवान् जीव एक साल में छ:मास के निर्जल उपवास के फल को प्राप्त करता है।

कुव्वदि रत्तिभोयणं, बहुजीवघादगो हवेदि जो सो।
दासपुत्तो कुलीणो, जायग-तिणकट्ठवाहगो य॥68॥

जो रात्रि भोजन करता है वह बहुत जीवों का घातक होता है। वह दासपुत्र, कुलीन, याचक एवं तृण व लकड़ियों का भार ढोने वाला होता है।

जीवदया

खयदि पयासेण तमं, सय अक्काइ-जोदिसगहाणं जह।
जीवदयाए अघाणि, खयंति तह होज्ज बहुपुण्णं॥69॥

जैसे सूर्य आदि ज्योतिष ग्रहों के प्रकाश से अंधकार नष्ट होता है उसी प्रकार जीव दया से पाप नष्ट होते हैं बहु पुण्य का अर्जन होता है।

चंदकलाइ विड्ढीइ, समुद्दजलं वि वड्ढदि णियमेणं।
जीवदया-विड्ढीए, वड्ढंति अप्पगुणा जह तह॥70॥

जैसे चंद्रमा की कला की वृद्धि से नियम से समुद्र का जल वृद्धिंगत होता है उसी प्रकार जीव दया भाव की वृद्धि से आत्मगुण वृद्धिंगत होते हैं।

होज्ज सायरेगासिद-बहु-जलरासि-अणेगरयणाणि जह।
तह दयाधम्मासिदा विउलसुह-सम्मत्ताइ-गुणा॥71॥

जिस प्रकार एक सागर के आश्रित बहुत जलराशि व अनेक रत्न होते हैं उसी प्रकार दया धर्म के आश्रित विपुल सुख व सम्यक्त्वादि गुण होते हैं।

धम्मो दयाविसुद्धो, सा उप्पज्जदि अणुकंव-भावेण।
हिंसाइ-चागादो हु, सरलमणे अणुकंवभावो॥72॥

दया से विशुद्ध धर्म है। वह दया अनुकंपा भाव से उत्पन्न होती है। हिंसादि के त्याग से सरल मन में अनुकंपा भाव होता है।

जीवरक्खणाकंखी, अभक्ख-भक्खणं णो कुणदि कयावि।
मंसं-महुं-मज्जं ण, भुंजदि जीवजुदफलाइं वि॥73॥

जीव रक्षा का आकांक्षी कभी भी अभक्ष्य भक्षण नहीं करता। वह मद्य, माँस, मधु (शहद) और जीवयुक्त फलों का भी भक्षण नहीं करता।

मण-वयण-कायेहि जे, भव्वुल्ला पालंति दयाधम्मं।
हविय विगददोसा ते, अणंतचदुट्ठयं पावंति॥74॥

जो भव्य जीव मन, वचन, काय से दयाधर्म का पालन करते हैं वे दोष रहित होकर अनंतचतुष्टय प्राप्त करते हैं।

दयाधम्मेण जीवो, तिलोए णिब्भयो होदि णियमेण।
खवदि अट्ठदसदोसा, तेसट्ठी कम्मपइडी अवि॥75॥

दया धर्म से नियम से जीव तीन लोक में निर्भय होता है। दया धर्म से जीव अट्ठारह दोष व त्रेसठ कर्म प्रकृति भी नष्ट करता है।

रुक्खाणं रक्खणं वि, करेज्ज सय सदुवजोगो णीरस्स।
किवणाण अदणसाला, गिम्हे णीर-ठवणं दयाइ॥76॥

दयाभाव से वृक्षों का रक्षण, जल का सदुपयोग, निर्धनों के लिए भोजनशाला व ग्रीष्मकाल में जल स्थापित करना चाहिए।

कूवं वाविगं तहा, जलासयादिं चिय णिम्मावेज्जा।
पसुपक्खीणं वि अण्ण-दाणं कुणदु दयाभावेण।।77।।

दया भाव से कुँआ, वापिका व जलाशय आदि का निर्माण कराना चाहिए व पशु-पक्षियों के लिए अन्न दान भी करना चाहिए।

पिपीलियाइ-जीवाण, मीणादीण चुण्णण्णं खिवेज्जा।
जम्हा संतुट्ठे ते, अण्णजीवघादं ण करेज्ज।।78।।

चींटी आदि जीव व मछली आदि के लिए आटा-अन्न डालना चाहिए। जिससे वे संतुष्ट होने पर अन्य जीवों का घात न करें।

सण्णाणमज्जिदुं जे, तप्परा तिव्वहिलासाए ताण।
खंडिआणं दाएज्ज, सिक्खाए उवयरणादिं वि।।79।।

जो तीव्र अभिलाषा से सम्यग्ज्ञान के अर्जन में तत्पर हैं उन विद्यार्थियों को शिक्षा के लिए उपकरण आदि भी देना चाहिए।

करुणादाणं लोए, पुण्णहेदू मण्णिज्जदे णिच्चं।
दयाधम्मो ठाएज्ज, कुत्थ करुणादाणेण विणा।।80।।

लोक में करुणा दान नित्य पुण्य का हेतु माना जाता है। करुणा दान के बिना दया धर्म कहाँ ठहर सकता है? अर्थात् कहीं नहीं।

णायप्पिय-सच्चत्थी, होज्ज पावकम्मेण जदि दरिद्दो।
रोय-संकिलेस-किच्छ-अणत्थेहिं संजुत्तो वा।।81।।
तिप्पेज्ज ताण धणाइ-मण्णाइभोयणं सुजोग्गत्था वि।
तस्स धम्मं रक्खिदुं, आसासेज्जा संबोहेज्ज।।82।।

यदि कोई न्यायप्रिय, सत्यवादी पापकर्म से दरिद्र होता है अथवा रोग, संक्लेश, पीड़ा, अनर्थ से युक्त होता है तो उसे धनादि वा अन्नादि भोजन वा सुयोग्य पदार्थ देने चाहिए। उसके धर्म की रक्षा के लिए उसे सांत्वना व संबोधन देना चाहिए।

पदि-हीण-णारीण वा, पियर-रहिदाणं बाल-बालाणं।
सहजोगं कुव्वेज्जा, ताण णिराबाह-जीवणस्स।।83।।

पति से रहित नारी अथवा माता-पिता से रहित बालक व बालिकाओं के निराबाध जीवन के लिए उनका सहयोग करना चाहिए।

णिरासिदा वुड्ढ-वुड्ढि-माणव-पसू अहवा सव्व-जीवा।
रक्खेज्ज सगदव्वेण, कुणदु सहजोगं सुभावेहि।।84।।

निराश्रित वृद्ध, वृद्धा, मानव, पशु अथवा सभी जीवों की रक्षा करनी चाहिए एवं शुभ भावों से स्वद्रव्य से सहयोग करना चाहिए।

न्यायार्जित धन

णायेण अज्जदि धणं, आजीवस्स जो पुण्णवंतो सो।
कसायं मंदं कडुअ, सुपुण्णं संतोसभावेण।।85।।

जो पुण्यवान् आजीविका के लिए न्यायपूर्वक धन का अर्जन करता है वह कषायों को मंद करके संतोष भाव से शुभ पुण्यार्जन करता है।

णायेण हिंसालीय-चोरकम्मादु विहीण-वावारं ।
सवरहिदत्थं कुव्वदि, धम्मविड्ढिं गेही जो सो॥86॥

जो गृहस्थ हिंसा, झूठ, चौर्य कर्म से विहीन व्यापार को करता है वह स्वपर हित के लिए धर्म की वृद्धि करता है।

कोहं माणं जिम्हं, लोह-मुवसमिय पालिदुं कुडुंबं।
पज्जत्तधणं मेत्तं, अज्जदि जो पुण्णवंतो सो॥87॥

जो क्रोध, मान, माया व लोभ का उपशम कर अपने परिवार के पालन के लिए मात्र पर्याप्त धन का अर्जन करता है वह पुण्यवान् है।

णायपुव्व-पविट्टीइ, तिण्णिजोगाविसुद्धं चिय किच्चा।
णिट्ठाइ सकत्तव्वं, पालदि जो पुण्णज्जगो सो॥88॥

जो न्यायपूर्वक प्रवृत्ति से तीनों योगों को विशुद्ध कर निष्ठा से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, वह निश्चय से पुण्य का अर्जन करने वाला है।

सकसाय-विट्टी जस्स, अण्णायजणिद-हिंसाइ-अघ-जुदा।
तस्स चित्ते ण धम्मो, सच्छिद्दभायणे णीरं व॥89॥

जिसकी वृत्ति कषाय सहित है, अन्याय जनित व हिंसादि पापों से युक्त है उसके चित्त में धर्म उसी प्रकार नहीं ठहरता जिस प्रकार सछिद्र बर्तन में जल।

णायेणं हि धणं जो, अज्जेदि तस्स धणं विच्चेज्ज खलु।
धम्मकज्जेसुं सवर-हिदम्मि तह लोयकल्लाणे॥90॥

जो न्यायपूर्वक ही धन अर्जन करता है उसका धन धर्म कार्यों में, स्वपर हित में तथा लोक कल्याण में व्यय हो पाता है।

अण्णायेण चिणदि जो, धणं तस्स णो विच्चदि सुकज्जेसु।
राय-चोर-दुट्ठेहिं, खयिज्जदे अणलजलेहि वा॥91॥

जो अन्यायपूर्वक धन का संचय करता है उसका धन सुकार्यों में व्यय नहीं होता। वह राजा, चोर, दुष्ट, अग्नि या जल के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

अज्जिदधणं दाणस्स, सुप्पहावणाए जिणसासणस्स।
परोवयारस्स वा दु, सुपुण्णणिमित्तं जाणेज्जा॥92॥

दान, जिनशासन की सुप्रभावना अथवा परोपकार के लिए अर्जित धन शुभ पुण्य का निमित्त जानना चाहिए।

अभक्ष्य त्याग

भुंजंति पमादेणं, अभक्खपदत्था मणुस-तिरिया जे।
अज्जंति घोरपावं, ण होंति वीयदुहसोगा ते॥93॥

जो मनुष्य या तिर्यंच प्रमादपूर्वक अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करते हैं वे भयंकर पाप का ही अर्जन करते हैं तथा वे कभी दु:ख या शोक से रहित नहीं होते।

अभक्ख-भक्खगो सया, णिमंतदे बहुपयार-रोयाइं।
अग्गि-कुंडे पडिदो हु, को णरो लहदि सीयलत्तं॥94॥

अभक्ष्य का भक्षण करने वाला सदा बहुत प्रकार के रोगों को आमंत्रित करता है। ठीक ही है अग्नि कुंड में गिरा हुआ कौन पुरुष शीतलता प्राप्त करता है।

अभक्ख-भक्खणं होदि, तिव्वपावज्जणस्स सया हेदू।
धम्मभावो णो ठादि, तस्स चित्ते चालणिजलंव॥95॥

अभक्ष्य भक्षण सदा तीव्र पापार्जन का हेतु होता है। जो अभक्ष्य भक्षण करता है उसके चित्त में धर्म भाव उस ही प्रकार नहीं ठहरता जिस प्रकार चलनी में जल नहीं ठहरता।

होंति पणविहाभक्खं, बहुसुत्थघादगं तसकलेवरं।
मादग-पदत्था लोय-णिंदवत्थुं पइडिविरुद्धं॥96॥

अभक्ष्य पाँच प्रकार के होते हैं—बहु स्वास्थ्य घातक, त्रस कलेवर, मादक पदार्थ, लोक निंद्य वस्तु तथा प्रकृति विरुद्ध पदार्थ।

णियंतिदुं सगिंदियं, समत्थो आसण्णभव्वो जो सो।
सव्वमभक्खं मुंचिय, लहदे सगप्पुप्पण्ण-सुहं॥97॥

जो अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण करने में समर्थ होता है वह आसन्न भव्य ही सर्व अभक्ष्यों का त्याग कर स्वात्मोत्पन्न सुख प्राप्त करता है।

अहकम्मं आसवंति, आसत्तीए इंदियविसयेसुं।
जादु विरत्तो सक्को, उज्झिदुं हु अभक्खपदत्थं॥98॥

इंद्रिय विषयों में आसक्ति होने से पाप कर्मों का आस्रव होता है। उससे विरक्त पुरुष अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करने में समर्थ है।

अभक्खभक्खणं कट्टु, कंखदि णिरोय-बलिट्ठ-देहं जो।
जलमंथणेण घिदं च, अजासिंगेहिं दुद्धं सो॥99॥

जो अभक्ष्य भक्षण करके निरोगी व बलिष्ठ देह की आकांक्षा करता है वह जलमंथन से घृत व बकरी के सींगों से दुग्ध चाहता है।

उपवास

लोगिगपव्वदिणेसुं, जह कुणदि णिम्मल-सदेहं तहेव।
अज्जा सस्सदपव्वे, तणं मणं उववासं कडुअ॥100॥

जिस प्रकार जीव लौकिक पर्व के दिनों में अपनी देह निर्मल करता है उसी प्रकार आर्य पुरुष शाश्वत पर्व में उपवास करके अपने तन व मन को पवित्र करते हैं।

अक्ककिरणेहि पुप्फे, गंधं फले महुरिमा वड्ढदि जह।
तह उववासेण अप्प-गुण-धम्म-सत्ती णियमेणं॥101॥

जैसे सूर्य की किरणों से पुष्प में गंध व फल में मधुरता वृद्धिंगत होती है उसी प्रकार उपवास से आत्मा के गुण, धर्म व शक्ति नियम से वृद्धिंगत होती है।

पव्वण्णदिणेसुं वा, सुभावेहि उज्झदि चउविह-असणं।
विसयकसायाण विट्टि-मुज्झिय रदो पुण्णकज्जेसु॥102॥
रयणं व दिव्ववत्थं, णर-सुरेसुं उववास-धारगो हु।
पुण होच्चा परमेट्ठिं, सग-सस्सदप्पविहवं लहदि॥103॥

जो पर्व या अन्य दिनों में शुभ भावों से चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है, विषय-कषायों का त्याग कर पुण्य कार्यों में रत होता है वह उपवास धारक नर-सुरों में रत्न के समान दिव्य अवस्था को प्राप्त करता है। पुनः परमेष्ठी होकर अपने शाश्वत आत्म वैभव को प्राप्त करता है।

उववासेणं रोया, खयंति अणिट्ठ-संजोग-दुहाणि य।
लहंति इंदिय-सोक्खं, सुकित्तिं वित्तं भवसोक्खं॥104॥

उपवास से रोग, अनिष्ट-संयोग व दु:ख नष्ट होते हैं। जीव इंद्रिय सुख, निर्मल कीर्ति, धन व संसार सुख को प्राप्त करते हैं।

उववासेणं चित्तं, णिम्मलं होज्ज पहावग-वयणाणि।
देहो सुहगो य धणं, णेव णस्सदि पावकज्जेसु॥105॥

उपवास से चित्त निर्मल होता है, वचन प्रभावक होते हैं, देह सुभग होती है एवं धन पाप कार्यों में नष्ट नहीं होता।

णमोकार मंत्र

'ण'यारो णासगस्स य, 'मो' मोक्खदायगस्स पदीगो चिय।
'का' कारगस्स णिच्चं, 'र' यारो रमणीयस्स तहा॥106॥
कम्मणासगो य मोक्खदायगो गुणुज्जोदण-कारगो य।
णमोकारो सगप्पे, रमणीयत्त-हेदू इत्थं॥107॥

नित्य ही 'ण' कार नाशक, 'मो' मोक्ष दायक, 'का' कारक एवं 'र' रमणीय का प्रतीक है। इस प्रकार णमोकार कर्म नाशक, मोक्षदायक, गुणों के प्रकटीकरण का कारण एवं स्वात्मा में रमणीयत्व का हेतु है।

इह मंते णिक्कंखे, के वि णामधारगा णमिदा णेव।
सुद्धप्पपंचठाणं, सस्सदा चिय सुद्धप्प-गुणा॥108॥

इस नि:कांक्ष मंत्र में कोई भी नाम धारक प्रणाम नहीं किए गए। शुद्धात्मा के पंच स्थान हैं। इस मंत्र में शुद्धात्मा के शाश्वत गुणों को प्रणाम किया गया है।

दव्व-खेत्त-याल-भाव, मज्जादाहीण-णमोयारो जं।
तं हु सव्व-दव्व-खेत्त-याल-भावेसु हि उक्किट्ठो॥109॥

क्योंकि यह णमोकार मंत्र द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा से हीन है इसीलिए यह सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों में उत्कृष्ट है।

पणतीसक्खरसहिदो, अट्ठपण्णासमत्ताए जुत्तो।
णमोयारो वि सोडस-सत्तेयक्खरी लहुरूवे॥110॥

णमोकार मंत्र 35 अक्षरों से सहित व 58 मात्राओं से युक्त है। यह लघु रूप में सोलह, सात व एकाक्षरी भी है।

सव्वपावक्खयेदुं, सक्को सव्वमणोरहपूरगो य।
सस्सदसोक्खदायगो, मंगलकत्तू णमोयारो॥111॥

णमोकार मंत्र सर्व पापों का क्षय करने में समर्थ है, सर्व मनोरथों को पूर्ण करने वाला है, शाश्वत सौख्य दायक एवं मंगलकर्ता है।

अट्ठोत्तरसयवारं, जवदि णमोयारं आणपाणेण।
जो सो उववास-फलं, पावदे णेव संकेज्जा हु॥112॥

जो श्वासोच्छ्वास पूर्वक 108 बार णमोकार मंत्र का जप करता है वह एक उपवास के फल को प्राप्त करता है, इसमें शंका नहीं करनी चाहिए।

महामंतपहावेण, णस्संति विंतराइ-किदुवसग्गा।
राय-सुर-पसु-चोराइ-भयं रोयं दुहं किलिसं वि॥113॥

महामंत्र के प्रभाव से व्यंतरादि कृत उपसर्ग नष्ट होते हैं। राजा, देव, पशु, चोरादि का भय, रोग, दु:ख व क्लेश भी नष्ट होता है।

इह भवे संति-हेदू, सुह-कित्ति-सत्ति-भोयसामग्गीण।
परभवे सुहदेहस्स, इट्ठवत्थूण पुण मोक्खस्स॥114॥

णमोकार मंत्र का जाप इस भव में शांति, सुख, कीर्ति, शक्ति व भोग सामग्री का हेतु है। पर भव में वह शुभ देह व इष्ट वस्तुओं का हेतु है पुनः मोक्ष का भी हेतु है।

कसायसामगं विसय-वासणा-दाहग-मिट्ठ-कारगं च।
ण जवदि झायदि मंतं, जो सो कहं लहेज्ज सोक्खं॥115॥

जो कषायों के शमन करने वाले, विषय वासना को दाह करने वाले व इष्ट करने वाले मंत्र का जप या ध्यान नहीं करता वह किस प्रकार सुख प्राप्त कर सकता है?

तीर्थयात्रा

णित्थारिदुं घोरभव-सायरं तित्थं व तित्थयराणं।
वंदणा सव्वसुहकारणं, णिमित्तभूद-ठाण-तित्थाण॥116॥

भयंकर संसार सागर से पार करने के लिए तीर्थ के समान तीर्थंकरों के निमित्तभूत स्थान, तीर्थों की वंदना सर्व सुख का कारण है।

इक्खुरसेणं पिट्ठं, अण्णवत्थुं वा महुरं होज्ज जह।
पुण्णणरेण मही तह, होज्जा पुज्जा भव-तारण-हेदू॥117॥

जिस प्रकार इक्षु रस के संयोग से आटा या अन्य वस्तु मधुर हो जाती है उसी प्रकार पुण्यशाली नर के संयोग से भूमि भी पूज्य व भव से पार करने का हेतु हो जाती है।

जह दिव्वरयणेहिं दु, गेहस्स अंधयारो विणस्सेदि।
तह तित्थवंदणेणं, मिच्छत्ताइपावकम्माणि।।118।।

जिस प्रकार दिव्यरत्नों के द्वारा घर का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तीर्थों के वंदन से मिथ्यात्वादि पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं।

मग्गे गच्छंतो अवि, तित्थवंदण-भावणाइ सुचित्तो।
सादिसयपुण्णं लहदि, विणा केण वि वाहणेणं दु।।119।।

बिना किसी वाहन के अर्थात् पैदल तीर्थ वंदना की भावना से मार्ग में जाता हुआ भी वह शुभ चित्त वाला सातिशय पुण्य को प्राप्त करता है।

तित्थसद्देण मेत्तं, ण गहिदव्वा तित्थभूमी परं वि।
रयणत्तय णवदेवा, तित्थफलस्स चिय दाणादो ।120।।

तीर्थ शब्द से मात्र तीर्थभूमि ग्रहणीय नहीं है अपितु तीर्थ के फल को देने से रत्नत्रय व नवदेवता (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य व जिन चैत्यालय) भी ग्रहणीय हैं।

सगपदेहि कुणदि तित्थ-जत्तं जो होदि णरासुरपुज्जो।
सुरसुहं भुंजित्तु सो, अरिहविहूदिं लहदि कमेण।।121।।

जो स्वपदों से तीर्थयात्रा करता है वह नर व असुरों के द्वारा भी पूज्य होता है। देव सुख को भोगकर क्रम से अरिहंतों के वैभव को प्राप्त करता है।

करावंति जे चउविह-संघं सिद्धाइखेत्तवंदणं च।
मेरुपव्वये लहंति, ते ण्हाणं सोधम्मिंदेण।।122।।

जो चतुर्विध संघ को सिद्धादि क्षेत्रों की वंदना कराते हैं वे सुमेरु पर्वत पर सौधर्म इंद्र के द्वारा अभिषेक को प्राप्त करते हैं।

तित्थवंदणफलेणं, लहंति इंदियसुहं विउलभोया।
जहेच्छ-वाहण-भयगा, सुपुत्ताइ-पुण्ण कुडुंबं च॥123॥

तीर्थवंदना के फल से जीवइंद्रिय सुख, विपुल भोग, यथेच्छ वाहन, सेवक व सुपुत्रादि भरापूरा परिवार प्राप्त करते हैं।

तित्थवंदगो लहदे उच्चपयं कित्तिं लोयपदिट्ठं।
अक्खयणिही धम्मो वि, अक्खयो होदि तस्स चित्ते॥124॥

तीर्थवंदना करने वाला उच्चपद, कीर्ति व लोकप्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। उसकी निधि अक्षय और चित्त में धर्म भी अक्षय होता है।

तित्थवंदणं कुव्वदि, करावदि अणुमण्णदे भव्वुल्लो।
लहदि कम्महीणसुहं, सयिंदेहिं पुज्जरिह-पदं॥125॥

जो भव्य तीर्थवंदना करता है, कराता है व अनुमोदना करता है वह शतेंद्रों के द्वारा पूज्य अरिहंत पद व कर्म हीन सुख को प्राप्त करता है।

किट्टिमाकिट्टिमतित्थ-वंदणेण विणा ण को वि समत्थो।
भवभमणं खयेदुं च, सस्सद-मोक्ख-पदं-लहिदुं च॥126॥

कृत्रिम या अकृत्रिम तीर्थों की वंदना किए बिना कोई भी भवभ्रमण के क्षय करने व शाश्वत मोक्ष पद प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।

मौन

कलहविवायविणासग-णिम्मलभावकारग-तुसिणी तहा।
मोणं धरेदि णाणी, दुद्दरोव्व वददि अण्णाणी॥127॥

मौन कलह व विवाद का नाशक तथा निर्मल भावों का कारक है। ज्ञानी मौन धारण करता है व अज्ञानी मेंढक के समान बोलता है।

सद्धाइ सत्तठाणे, पालिदव्वं मोणवदं वदीहिं।
मोणवदेण होदि सुद-केवली केवली णियमेण॥128॥

व्रतियों के द्वारा श्रद्धा से सप्त स्थानों में मौन पालन किया जाना चाहिए। मौन व्रत से जीव नियम से श्रुतकेवली व केवली होता है।

ण्हाणे भोयणे तहा, अच्चणे मेहुणे विसंवादम्मि।
मलमुत्तचागसमये, मोणं धारेज्ज सज्जणा दु॥129॥

सज्जनों को स्नान, भोजन, अर्चना, मैथुन, विसंवाद एवं मल-मूत्र त्याग के समय मौन धारण करना चाहिए।

दरिद्दा तुंगभद्दा, रायपुत्तं सुकोसलं हवित्ता।
होसी अरिहंतो पुण, सिद्धो तह मोणवदेणं हि॥130॥

दरिद्रा तुंगभद्रा मौनव्रत के प्रभाव से राजपुत्र सुकौशल होकर अरिहंत हुई पुनः सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया।

णिमित्तणाणं च देस-परम-सव्वोहिं लहदि मोणेणं।
उजु-विउल-मणपज्जयं, भव्वुल्लो हु सुहभावेहिं॥131॥

शुभ भावों से मौन से भव्य निमित्तज्ञान, देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, ऋजुमति मनःपर्यय व विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान को प्राप्त करता है।

व्रत-पालन

अणुव्वदं सीलव्वद-धम्मं जो हु पालेदि णिद्दोसं।
णिम्मलभावं किच्चा, सादिसयपुण्णं लहदे सो॥132॥

जो भव्य निर्मल भाव करके अणुव्रत, शीलव्रत धर्म का निर्दोष पालन करता है, वह सातिशय पुण्य को प्राप्त करता है।

संवर-णिज्जराणं वि, अणुव्वदं च सीलव्वदं हेदू।
परंपरेणं सुरिंद-पय-कारणं तहा मोक्खस्स॥133॥

अणुव्रत व शीलव्रत संवर व निर्जरा का हेतु हैं। वह सुरेन्द्र पद का कारण तथा परंपरा से मोक्ष का हेतु हैं।

अहिंसासच्चमचोरि-सदारसंतोस-संगपरिमादी।
पणमगदिं गच्छेदुं, पंचणुव्वदं दु विमाणं व॥134॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार संतोष व परिग्रह परिमाण ये पाँच अणुव्रत पंचम गति में जाने के लिए विमान के समान है।

सत्तमतच्चं लहंति, कमेण भवी पालिय सत्तसीलं।
दिग्घसंसारी हु तं, पालेदुं णेव सक्कंते॥135॥

सप्तशीलों का पालन कर भव्य क्रम से सप्तम तत्त्व-मोक्ष को प्राप्त करते हैं। दीर्घ संसारी उन्हें पालने में समर्थ नहीं होते।

जाणेज्ज सत्तसीलं, तियगुणव्वदं चउसिक्खावदं च।
उत्तमसोवणं व तं, णिस्सरिदुं हु भवकूवादो॥136॥

तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत सप्तशील कहलाते हैं। संसार रूपी कूप से निकलने के लिए ये व्रत उत्तम सोपान के समान हैं।

चदुविह-सिक्खावदाणि, सामाइयं पोसहोववासं च।
अदिहि-संविभागो चिय, सल्लेहणा मुणेदव्वाणि॥137॥

शिक्षाव्रत चार प्रकार के जानने चाहिए - सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग एवं सल्लेखना।

तिण्णिविह-गुणव्वदाणि, णिच्चं दिसव्वदं देसव्वदं च।
अणट्ठदंडविरदिवद-मघं णासिदुं णादव्वाणि॥138॥

पापों का नाश करने के लिए गुणव्रत नित्य तीन प्रकार के जानने चाहिए -दिग्व्रत, देशव्रत एवं अनर्थ-दंडविरति व्रत।

कट्ठं छिंदेदुं जह, धारजुत्तकुहाडी सक्केदि तह।
णिद्दोस-सत्तसीलं, पावसंजुत्तभवरुक्खं हु॥139॥

जैसे काष्ठ (लकड़ी) को छेदने में धार से युक्त कुल्हाड़ी समर्थ होती है उसी प्रकार निर्दोष सात शीलव्रत पाप से संयुक्त संसार रूपी वृक्ष को काटने में समर्थ होते हैं।

सोडससग्गाणं बहु-सुह-मायामदि अणु-सीलव्वदं च।
पुण चक्कि-हलि-मदणाइ, पुण्णपदं तह मोक्खपदं वि॥140॥

अणुव्रत व शीलव्रत सोलह स्वर्गों के बहुत सुखों को देता है। पुनः चक्रवर्ती, बलभद्र, कामदेवादि के पुण्य पद तथा मोक्ष पद भी देता है।

अनर्थदंड त्याग

अप्पयोजण-भूदं च, णिक्कारण-हिंसाइ-जुदं जं तं।
अणिट्ठफल-दायगं च, दोत्थहेदू कज्ज-मणिट्ठं॥141॥

जो कार्य अप्रयोजनभूत, निष्कारण हिंसादि से युक्त, अनिष्ट फल दायक और दुर्गति का हेतु है वह अनर्थ कार्य है।

अघुवदेस-हिंस-दाण-दुस्सुदि-दुज्झाण-पमादचरियाय।
अहकसायजुद-तिजोग-अणट्ठपविट्ठी पंचविहा॥142॥

पाप व कषाय से युक्त त्रियोग की अनर्थ प्रवृत्ति पाँच प्रकार की है—पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रति, दुर्ध्यान एवं प्रमादचर्या।

भव्वीहि उज्झिदव्वो, अणत्थदंडो सय सुद्धभावेहि।
सवर-हिदयर-कज्जेहि, वीदकम्मसुहं पावंते॥143॥

भव्यों के द्वारा सदा शुद्ध भावों से अनर्थदंड त्याग किया जाना चाहिए। स्वपर का हित करने वाले कार्यों से भव्य कर्म से रहित सुख को प्राप्त करते हैं।

श्रावक तप

एगासणमुववासं, ऊणुदर-माहारवत्थुमाणं च।
कुणदि अक्खजयिदुं जो, लहदि चिय अदिसयपुण्णं सो॥144॥

जो भव्य इंद्रियों पर विजय हेतु एकासन, उपवास, ऊनोदर, आहार की वस्तुओं का परिमाणादि करता है वह निश्चय से अतिशय पुण्य को प्राप्त करता है।

अक्खं णिरुंभिदुं घिद-दुद्ध-तिल्ल-गुड-दहि-लवणाणं वा।
एग-बे-तिण्णादीण, सत्तीइ मुअणं रसचागो॥145॥

इंद्रिय निरोध के लिए घी, दूध, तेल, गुड़, दही वा नमक इन एक, दो या तीन आदि रसों का शक्ति पूर्वक त्याग करना रसत्याग कहलाता है।

अणसणादीहि हु असुह-संवरं णिज्जरं च कुणंति वदी।
पुण्णफलं भुंजंता, तिलोयपुज्जपदं गहंते॥146॥

व्रतीजन अनशन आदि के द्वारा अशुभ का संवर व निर्जरा करते हैं। पुनः पुण्य का फल भोगते हुए त्रिलोक पूज्य पद को प्राप्त करते हैं।

धर्म प्रभावना

होंति धम्मपवट्टगा, जिणसासण-पहावणाए जे ते।
महाकज्जाणि कुणंति, महच्चणा-दाण-जत्तादी॥147॥

जो भव्य जिनशासन की प्रभावना के लिए महार्चना, दान व यात्रादि महान् कार्यों को करते हैं वे धर्म प्रवर्तक होते हैं।

जिणबिंब-जिणागारे, तित्थवंदणे, सत्थपयासणे य।
साहम्मि-उवयारम्मि, आदीसु सगधणं विच्चित्तु॥148॥
जोगत्तयेण जो सो, जिणसासण-पहावणं कुणदि तस्स।
जीवण-महापहावी, सुपुज्जो सया सज्जणेहिं॥149॥

जो जिनबिंब, जिन चैत्यालय (मंदिर), तीर्थवंदना, शास्त्रों का प्रकाशन व साधर्मी के उपकार आदि में अपना धन व्यय कर जिनशासन की प्रभावना करता है उसका जीवन महाप्रभावी होता है तथा सज्जनों के द्वारा सदा पूज्य होता है।

जिणसासण-पहावगो, लहदि उक्किट्ठक्खसुहं णियमेण।
पुण अतिंदियं सस्सद-मोहहीण-अणंतसोक्खं च॥150॥

जिनशासन की प्रभावना करने वाला नियम से उत्कृष्ट इंद्रिय सुख प्राप्त करता है। पुनः अतीन्द्रिय, शाश्वत, मोह रहित अनंत सुख को प्राप्त करता है।

जिणसावयो य समणो, सया करेज्ज पहावगकज्जाइं।
जिणधम्मविघादगाणि, लोयणिंदाणि णो सिविणे वि॥151॥

जिन श्रावक व श्रमणों को सदा जिनशासन प्रभावक कार्य करने चाहिए। जिनधर्म का घात करने वाले व लोक निंद्य कार्य स्वप्न में भी नहीं करने चाहिए।

सज्झाय-तच्चचिंतण-वदपालण-तव-अप्पज्झाणेहि य।
कुणदु अप्पपहावणं, करंतो णिम्मलपरिणामं॥152॥

स्वाध्याय, तत्त्वचिंतन, व्रतपालन, तप और आत्मध्यान के द्वारा निर्मल परिणाम करते हुए आत्मप्रभावना करनी चाहिए।

तत्त्वचिंतन

सुद्धप्पचिंतणेणं, होदि विरत्ती विसयकसायादो।
कसायो सयं हि समदि, पावपविट्टी अवि छुट्टेदि॥153॥

शुद्धात्म चिंतन से विषय-कषायों से विरक्ति होती है, कषाय स्वयं ही शमित होती हैं और पाप प्रवृत्ति भी छूट जाती है।

तच्चचिंतणेण अप्प-बलं संजमं विरागो वड्ढेज्ज।
समत्तभावो झाणं, णाणस्स हु सबलपाणो तं॥154॥

तत्त्व चिंतन से आत्मबल, संयम, वैराग्य, समत्व भाव और ध्यान वृद्धिंगत होता है। वह ज्ञान का सबल प्राण है।

सोवाणं व सुगदीइ, अग्गलोव्व दुग्गदीइ सुह-हेदू।
तच्चचिंतणं णियमा, महोसहीव दुक्खक्खयिदुं॥155॥

तत्त्वचिंतन नियम के सुगति के लिए सोपान के समान, दुर्गति के लिए अर्गला के समान, सुख का कारण एवं दु:खों के क्षय के लिए महौषधि के समान है।

कुहाडीव अण्णाणं, णासिदुं आणपाणोव्व णाणीण।
मोहदाहग-अग्गी हु, तच्चचिंतणं किं णो कुणसि॥156॥

तत्त्वचिंतन अज्ञान नाश करने के लिए कुल्हाड़ी के समान है, ज्ञानियों के लिए श्वासोच्छ्वास के समान है व मोह को जलाने वाली अग्नि है। ऐसा तत्त्वचिंतन तुम क्यों नहीं करते?

तच्चचिंतणं दुहस्स, छेदगो अण्णाण-णासगत्तादु।
अण्णाणं दुह-मूलं, ण कया वि दुही तच्चणाणी॥157॥

अज्ञान दु:ख का मूल है। अज्ञान का विनाशक होने से तत्त्वचिंतन दु:ख का छेदक है। तत्त्वज्ञानी कभी भी दु:खी नहीं होता।

सग-मिच्चुं णो चिंतदि, अण्णाणी परमिच्चुं पस्सित्ता।
तच्चणाण-हीणस्स हु, तस्स विथा धणं जीवणं च॥158॥

दूसरों की मृत्यु देखकर भी अज्ञानी अपनी मृत्यु का चिंतन नहीं करता है। जो तत्त्व ज्ञान से हीन है उसका धन व जीवन व्यर्थ है।

वैराग्य

वेरग्गं हु विरत्ती, भवतणभोयादो सुपुण्णहेदू।
पुण भवविणासगं तं, विसेसासत्ती भवमूलो॥159॥

संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति वैराग्य है। वह सुपुण्य का हेतु पुन: संसार का नाशक है। विशेष आसक्ति संसार का मूल है।

मोक्खं लहीअ लहंति, लहिस्संति वेरग्गफलं दु।
वेरग्गेणं विणा य, कम्मक्खयो संभवो णेव॥160॥

जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, जो मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं और जो करेंगे वह सब वैराग्य का फल है। वैराग्य के बिना कर्म क्षय संभव नहीं है।

वुड्डंति भवसायरे, रंजंति भवतणभोयेसु जे ते।
वेरग्गं तरणीव हु, संसार-सिंधुं णित्थरिदुं॥161॥

जो संसार-शरीर-भोगों में रंजायमान होते हैं वे संसार सागर में डूब जाते हैं। संसार सागर को पार करने के लिए वैराग्य नौका के समान है।

परोपकार

परोवयारं कुणिदुं, सक्को मंदकसायी सुहचित्तो।
सो हु कुव्वदि सगहिदं, जं सहिदं विणा परहिदं ण॥162॥

मंदकषायी और शुभ चित्त वाला परोपकार करने में समर्थ होता है। परोपकार करने वाला वह जीव स्वहित ही करता है क्योंकि स्वहित के बिना परहित नहीं हो सकता।

जो णिस्सत्थभावेण, कुणदि परोवयारं सुहभावेहि।
पइडी सुरणर-सव्वा, तस्स कुणंति सय सहजोगं॥163॥

जो नि:स्वार्थ भाव से शुभ भावों से परोपकार करता है सदा उसका सहयोग प्रकृति, देव व मनुष्य सभी करते हैं।

कर्त्तव्यपालन

सुहकत्तव्वं धम्मो, संसारवड्ढग-कत्तव्वं णेव।
णिट्ठाए जो पालदि, कत्तव्वं होदि पुज्जो सो॥164॥

शुभ कर्तव्य धर्म है। संसार वर्द्धक कर्त्तव्य कदापि धर्म नहीं है। जो निष्ठा से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। वह पूज्य होता है।

धम्मो मुत्ति-कारणं, भणिदो जिणसमयम्मि अप्पधम्मो।
सुहकज्जं कत्तव्वं, लोयम्मि सुहेण जीविदुं हु॥165॥

धर्म मुक्ति का कारण है। जिनशासन में मुक्ति का कारण वह आत्मधर्म कहा गया है। लोक में सुख पूर्वक जीने के लिए शुभ कार्य (कर्त्तव्य) करने योग्य हैं।

धर्मानुरक्ति

धम्महीण-जीवंतो, अवि मिदोव्व मण्णिज्जदि णाणीहिं।
धम्म-भाव-संजुदो वि, अप्पजीवी दिग्घजीवीव॥166॥

धर्म से हीन जीता हुआ भी ज्ञानी जनों के द्वारा मृत के समान माना जाता है। एवं धर्म भाव से संयुक्त अल्पजीवी भी दीर्घजीवी के समान है।

अणिच्चं सव्वदेहं, भवविहवो णेव सस्सदो कया वि।
मिच्चुजुद-सव्वदेही, तं पालेज्ज अप्पधम्मं दु॥167॥

सर्व देह अनित्य हैं। संसार का वैभव कभी भी शाश्वत नहीं होता। सभी देही मृत्यु से युक्त हैं इसलिए आत्मधर्म का सदा पालन करना चाहिए।

सुधम्मं पालेदुं हु, कयावि करेज्ज कालपदिक्खं णो।
जम्हा णर-देहं मण-वियार-मद्धुवं सस्सदं ण॥168॥

सद्धर्म पालन के लिए कभी भी समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि मनुष्य देह व मनोविचार अध्रुव हैं, शाश्वत नहीं।

मरणयाल-णिच्छिदो ण, कम्मभूमिज-सामण्ण-जीवाणं।
धम्मणुऊल-कज्जाणि, तं कुणदु बुही मिच्चु-पुव्वे॥169॥
अग्गी कट्ठं तिल्लं, घिदं णीरं जह आलुंखेदि चिय।
मिच्चू खयदि गब्भजं, बाल-किसोर-जुवा-वुड्ढा य॥170॥

जैसे अग्नि लकड़ी, तेल, घृत व नीर को जला देती है उसी प्रकार मृत्यु गर्भज, बालक, किशोर, युवा और वृद्धों को नष्ट कर देती है। कर्मभूमिज सामान्य जीवों का मरणकाल निश्चित नहीं है इसीलिए बुधिजनों को मृत्यु के पूर्व ही धर्म के अनुकूल कार्य करने चाहिए।

चंदेण विणा रत्ती, किरणेहि विणा दिवायरो चंदो।
गंधेण विणा पुप्फं, धम्मेणं विणा जीवणं च॥171॥

जैसे चंद्रमा के बिना रात्रि, किरणों के बिना सूर्य व चंद्र तथा गंध के बिना पुष्पों की शोभा नहीं होती उसी प्रकार धर्म के बिना जीवन की शोभा नहीं होती।

जे के वि पाविट्ठा हु, णिंदंते जिणिंद-सुद-मुणिवरा य।
ते होंति णिरयवासी, उक्किट्ठाउ-बहुदुहसहिदा॥172॥

जो कोई भी पापिष्ठ जीव जिनेंद्र प्रभु, श्रुत व मुनिवरों की निंदा करते हैं वे उत्कृष्ट आयु व बहु दु:खों से सहित नरकवासी होते हैं।

अविणयेणं खलु धम्म-धम्मीणं पावंति घोरदुहाणि।
होच्च तिरिय-णेरइया, बहुविहदुहं भुंजंति तत्थ॥173॥

धर्म व धर्मियों की अविनय से जीव घोर दु:खों को प्राप्त करते हैं। एवं तिर्यंच व नारकी होकर वहाँ बहुत प्रकार के दु:खों को भोगते हैं।

सव्वजीवेसु मित्ती, णिम्मलणेहो धम्माणुराओ य।
गुणीसु पमोदभावो, वच्छलं तह साधम्मीसुं॥174॥

सर्व जीवों में मैत्री, निर्मल स्नेह व धर्मानुराग, गुणियों में प्रमोद भाव एवं साधर्मियों में वात्सल्य होना चाहिए।

विवरीदविट्ठीसु मज्झत्थभावो धीरो विवत्तीए।
अप्पविस्सासी होज्ज, धणे लद्धे दाणभावो य॥175॥
आदी विसुद्धभावो, भवक्खयस्स चिय कारणं-मण्णे।
जह तह णिम्मलणीरं, मलं पक्खालदि णियमेणं॥176॥

विपरीत वृत्ति वालों में माध्यस्थ भाव, विपत्ति में धीर व आत्मविश्वासी व धन प्राप्त होने पर दान भाव होना चाहिए। इत्यादि विशुद्ध भाव संसार क्षय के कारण वैसे ही माने जाते हैं जैसे निर्मल नीर नियम से मल प्रक्षालित करता है।

प्रशम भाव

णीसवंते खयंते, कम्माणि समणा समत्तभावेण।
संतोसेण सावयो, णिरुंभदे भवड्ढग-कम्मं॥177॥

श्रमण समत्व भाव से कर्मों की निर्जरा करते हैं, क्षय करते हैं। श्रावक संतोष भाव से भववर्द्धक कर्मों का निरोध करता है।

कोहोदयेण जीवो, सगदेहं धम्मं पदिट्ठं खयदि।
खमाभावेण हवेदि, सवरसुहं पुण्णज्जणं तह॥178॥

क्रोध के उदय से जीव स्वदेह, धर्म व प्रतिष्ठा को नष्ट करता है। क्षमाभाव से स्वपर सुख तथा पुण्यार्जन होता है।

उच्चकुलं पुण्णाउं, णिरामय-देहं पाविय होदि पुण।
सुदकेवली केवली, जिणसुदमुणीणं विणयेणं॥179॥

जिन श्रुत व मुनियों की विनय से जीव उच्चकुल, पूर्णायु व निरोगी देह को प्राप्त कर पुनः श्रुतकेवली व केवली होता है।

माण-महाविसरूवो, जस्सुदयेणं परं खलियारेदि।
मण्णेदि परं तुच्छं, सगं महाणो दंसावदि य॥180॥

मान महाविषरूप है जिसके उदय से जीव दूसरे का तिरस्कार करता है, दूसरे को तुच्छ मानता है और स्वयं को महान् दिखाता है।

जो दु पुज्जपुरिसा पडि, विणयजुत्तो माणविहीणो होज्ज।
सो लहदे बहुपुण्णं, लोयपदिट्ठं अप्पगुणा वि॥181॥

जो पूज्य पुरुषों के प्रति विनययुक्त व मान से विहीन होता है वह बहुत पुण्य, लोकप्रतिष्ठा व आत्म गुणों को प्राप्त करता है।

सव्वपावाण जणणी, जिम्हं वंचणा छलं मण्णे वा।
अंबंव घादगं चिय, सुत्थ-धम्म-अप्पाणं तहा॥182॥

माया, वंचना अथवा छल सब पापों की जननी मानी जाती है। वह स्वास्थ्य, धर्म तथा आत्मा की तेजाब के समान घातक मानी जाती है।

विजहित्तु जिम्हभावं, अज्जवभावं धरदि णियचित्तम्मि।
जो सो महाण-धम्मी, परकल्लाणणिमित्तं वि सय॥183॥

जो माया भाव को छोड़कर निज चित्त में आर्जव भाव धारण करता है वह महान् धर्मी परकल्याण का भी निमित्त है।

सरलभावसंजुत्तो, भद्दो चोक्खो सहजो गंभीरो।
अज्जदि बहुपुण्णरासि-महक्खयेदुं सय समत्थो॥184॥

सरल भाव से संयुक्त, भद्र, चोखा, सहज व गंभीर व्यक्ति बहुपुण्यराशि का अर्जन करता है स्व पापों के क्षय में समर्थ होता है।

लोहविट्टी अग्गीव, धम्म-विणासगा चिंता-जणणी य।
साहुव्व वंदणीयो, संतोस-विट्टि-धारगो सय॥185॥

लोभ की वृत्ति अग्नि के समान है, वह धर्म की नाशक व चिंता की जननी है। संतोष वृत्ति धारक सदा साधु के समान वंदनीय है।

जे समिदुं हु समत्था, कोहाइ-सयल-कसाया जदणेण।
खंति-गुण-धरा हवंति, सुरपुज्जा पुण्णज्जगा ते॥186॥

जो यत्नपूर्वक क्रोधादि सकल कषायों को शमन करने में समर्थ होते हैं वे क्षांतिगुण के धारक देवों द्वारा पूज्य व पुण्य का अर्जन करने वाले होते हैं।

समाधि भावना

जस्स साहुं पडि होज्ज, वेज्जावच्चभत्तिभावो णिच्चं।
समाहिभावणं कुणदि, समाहिसाहणं पस्सित्ता॥187॥
तस्स सत्थग-जीवणं महाविउल पुण्णरासिं अज्जेदि सो।
तं पुण्णं वण्णिदुं हं, ण खमो अप्पमइधारगादु॥188॥

जिसका साधु के प्रति नित्य वैय्यावृत्ति वा भक्ति भाव होता है, जो समाधि की साधना को देखकर समाधिभावना करता है उसका जीवन सार्थक है। वह महाविपुल पुण्यराशि का अर्जन करता है। अल्पमति का धारक होने से उसके पुण्य का वर्णन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ।

आहि-मुवाहिं वाहिं, उज्झित्ता समत्तभावधरेहिं।
वदि-महव्वदीहि तहा, समाहिभावणुवादेया हु॥189॥

आधि-उपाधि-व्याधि का त्याग कर समत्व भाव को धारण करने वाले व्रतियों-महाव्रतियों के द्वारा समाधिभाव उपादेय है।

भवभयं हरिदुं तहा, सिवसुहं पप्पोदुं पुण्णवंता।
तिकरणेहिं गहंते, समाहिं णिम्मलभावेहिं॥190॥

पुण्यवान् जीव संसार भय के हरण हेतु व शिव सुख की प्राप्ति के लिए त्रिकरण व निर्मल भावों से समाधि ग्रहण करते हैं।

उक्किट्ठसमाहीए तब्भवे बे-ते-सत्तट्ठभवेसु।
पावदे मुत्तिपदं च, कारिदो अवि समणुन्नो वा॥191॥

उत्कृष्ट समाधि से जीव उस भव में, दो, तीन या सात-आठ भवों में मुक्तिपद प्राप्त करता है। समाधि कराने वाला भी और अनुमोदक भी उसी प्रकार फल को प्राप्त करता है।

इत्थं भासिज्जदे हु, एगसमाहि-करावणस्स सुफलं।
दिक्खाणेग-दाणस्स, फलं व होज्ज सुहभावेहिं॥192॥

इस प्रकार शुभ भावों से एक समाधि कराने का सुफल अनेक दीक्षा देने के फल के समान होता है।

उत्तमसमाहिं कडुअ, होदि उत्तमदेवो लोयपालो।
इंदपतिंदो अहवा अहमिंदादी हु भव्वुल्लो॥193॥
पुण होदि णरपुंगवो, रायाहिराया तह महाराया।
अद्धमंडलीग-मंडलीग-महामंडलीगा-हरी वा॥194॥
चक्की बलभद्दो दु, कामदेवो कुलयरो तित्थयरो।
पणकल्लाणविहूदिं, पावित्ता पुण लहदि मोक्खं॥195॥

भव्यजीव उत्तम समाधि करके उत्तमदेव, लोकपाल, इंद्र, प्रतीन्द्र अथवा अहमिंद्रादि होता है। पुनः वह नरपुंगव, राजाधिराज, महाराज, अर्द्धमंडलीक, मंडलीक, महामंडलीक, हरी (नारायण-प्रतिनारायण), चक्रवर्ती, बलभद्र, कामदेव, कुलकर व तीर्थंकर होता है एवं पंचकल्याण विभूति को प्राप्त कर पुनः मोक्ष प्राप्त करता है।

पुण्य-फल

पुण्णफलं तसपज्जाओ, णरगदी सण्णित्त-मुच्चकुलो।
दिग्घाउं च णिरामय-देहो उक्किट्ठ-संघडणं।।196।।
समचउक्कसंठाणं, सुहं सुरूवो सुभगो सुस्सरो य।
आदेय-तित्थयर-जसकित्तिच्चादी सुह-पइडी वि।।197।।
विउलधणं बहुविहवो, सुमित्तं च जहेच्छभोयसामग्गी।
मणोहारिणी वामा, पुत्ती पुत्त-अण्णायारी।।198।।
धण-धण्णं सुसेवगा-लोयपदिट्ठा पूया-सक्कारो।
दुग्ग-वाहिणी रज्जं, गय-हय-रहाइ-वाहणाइं।।199।।

त्रसपर्याय, मनुष्य गति, संज्ञित्व, उच्चकुल, दीर्घायु, निरोगी देह, उत्कृष्ट संहनन, समचतुरस्रसंस्थान शुभ, सुरूप, सुभग, सुस्वर, आदेय, तीर्थंकर, यशकीर्ति आदि शुभ प्रकृतियाँ, विपुल धन, बहुवैभव, सुमित्र, यथेच्छ भोज्यसामग्री, मनोहारिणी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र-पुत्री, धन-धान्य, सुसेवक, लोकप्रतिष्ठा, पूजा, सत्कार, दुर्ग, सेना, राज्य, हाथी, अश्व व रथादि वाहन पुण्य का फल है।

भूवइ-रायाहिराय-महारायद्धमंडलेसराणं।
मंडलेसरपद-महामंडलीग-अद्धचक्कीणं।।200।।
चक्कि-बलदेव-रदिपइ-णागिंदिंद-पतिंदहमिंदाणं।
लोयपाल-लोगंतिग-आइपदा लहंति पुण्णेणं।।201।।

पुण्य से जीव राजा, अधिराज, महाराज, अर्द्धमंडलेश्वर, मंडलेश्वर, महामंडलीक, अर्द्धचक्रवर्ती, चक्रवर्ती, बलदेव, कामदेव, नागेंद्र, इंद्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र, लोकपाल, लौकांतिक आदि पदों को प्राप्त करता है।

पुण्णोदयेण जीवो, लहंति उच्चकुलं णिरोयदेहं।
सुंदरिमं जिणधम्मं, जिणं णिग्गंथगुरुं सुदं च।।202।।
जिणवयणं जिणचेइय-चेइयालयाणि य सुद्धप्परुइं।
सुव्वदं तवं झाणं, बोहिं पुण समाहिमरणं दु।।203।।

पुण्योदय से जीव उच्चकुल, निरोगीदेह, सौंदर्य, जिनधर्म, जिनेंद्र प्रभु, निर्ग्रंथ गुरु, श्रुत, जिनवचन, जिनचैत्य, जिनचैत्यालय, शुद्धात्म रुचि, सुव्रत, तप, ध्यान, बोधि पुनः समाधि मरण को प्राप्त करता है।

पुण्य उपादेय क्यों

इच्छदि सगकल्लाणं, सव्वदुहणासं जो वि भव्वुल्लो।
गहदु पुण्णपह-मघतम-णासिदुं दीवोव्वपुण्णं दु।।204।।

जो भव्य जीव स्वकल्याण व सर्व दुःख नाश की इच्छा करता है उसे पुण्य का पथ ग्रहण करना चाहिए। पाप अंधकार को नाश करने के लिए पुण्य दीप के समान है।

कंडगोव्व पावं तं, णिस्सारेदुं सूई व पुण्णं च।
विणा पुण्णपुप्फेण, असंभवो हु सिवफल-लहणं।।205।।

पाप कंटक के समान है उसे निकालने के लिए पुण्य सुई के समान है। पुण्य रूपी पुष्प के बिना शिव फल प्राप्त करना असंभव है।

आउकम्मोदयेणं, जीवदि परं आणपाणावसियो।
जह तह सकुसलजीविदु-मुवादेय-पुण्णकज्जाइं।।206।।

जैसे आयु कर्म के उदय से जीव जीता है किन्तु श्वासोच्छ्वास आवश्यक है उसी प्रकार सकुशल जीने के लिए पुण्य कार्य उपादेय हैं।

सरायू-सदिट्ठीणं, पावं सया हेयं मुणेदव्वं।
पुण्णमुवादेय-मसुह-कम्माणं चिय णिविट्टीए।।207।।

सराग सम्यग्दृष्टियों के लिए पाप सदा हेय जानना चाहिए। अशुभ कर्मों की निवृत्ति के लिए पुण्य उपादेय है।

वीयराय-जोगीणं, कणयायस-पिंडोव्व पुण्णपावं।
जदवि दोण्णि चिय भिण्णा, तहवि उज्झेज्ज उहयकम्मं।।208।।

वीतराग योगियों के लिए पुण्य स्वर्ण पिंड व पाप लोह पिंड के समान है। यद्यपि दोनों ही भिन्न हैं तदपि उभय कर्मों को छोड़ना चाहिए।

पाप के पर्यायवाची

दुक्खं संकिलेसो य, किलेसो पीडा पाव-मेगट्ठो।
ववहारेणं पुण्णं, धम्मस्स ववहाररूवं दु।।209।।

दु:ख, संक्लेश, क्लेश, पीड़ा, पाप एकार्थवाची हैं। व्यवहार से पुण्य धर्म का व्यवहार (practical) रूप है।

पुण्य नष्ट होने पर मोक्ष

पुप्फेसुं पतणेसुं, सयं फलंते रसालाइ-रुक्खा।
जह तह पुण्णे णट्ठे, मोक्खफलं होज्ज भव्वाणं।।210।।

जैसे पुष्पों के गिरने पर आम्रादि वृक्ष स्वयं फलित होते हैं, उसी प्रकार भव्यों का पुण्य स्वयं नष्ट होने पर मोक्ष फल होता है।

सुहासुहुवजोगो चिय, खीरविसजुदभायणं व कमेणं।
सवरहिदत्थं णेयो, अमियं व सय सुद्धुवजोगो।।211।।

शुभ व अशुभ उपयोग क्रमशः खीर युक्त बर्तन एवं विष युक्त बर्तन के समान हैं। स्वपर हित के लिए शुद्धोपयोग सदा अमृत के समान जानना चाहिए।

असुहुवजोग-मुज्झेज्ज, असुहं विहाय दु सुहोवादेयो।
सुद्धोवादेयो जं, पच्चक्खेण सिवहेदू सो।।212।।

अशुभ उपयोग को त्यागना चाहिए। अशुभोपयोग को त्यागकर शुभोपयोग उपादेय है। पुनः शुद्धोपयोग उपादेय है क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप से मोक्ष का हेतु है।

पावुदयेण जम्मंति, णिरय-तिरिय-कुमाणुसेसुं जीवा।
सुरदुग्गदिं लहंते, त-मामुयेज्ज पावकज्जाणि।।213।।

जीव पाप के उदय से नरक, तिर्यंच, कुमानुषों में जन्म लेते हैं, देव दुर्गति प्राप्त करते हैं, इसलिए पाप कार्यों को त्यागना चाहिए।

णीयो अप्पाउक्को, वियलंगो-वाहिल्लो पावेणं।
भारवाहग-दरिद्दो, दासविट्टिसंजुदो जीवो।।214।।

पाप से जीव नीच, अल्पायुष्क, विकलांग, रोगी, भारवाहक, दरिद्र व दासवृत्ति से युक्त होता है।

अणिट्ठवत्थुजोगो य, इट्ठजणवत्थु-विजोगो पावेण।
देहम्मि तिव्वपीड़ा, तिव्वकंखा परवत्थूणं।।215।।

पाप से अनिष्ट वस्तु का योग, इष्ट जन व वस्तुओं का वियोग, देह में तीव्र पीड़ा एवं परवस्तुओं की तीव्र आकांक्षा होती है।

असुहलेस्सा-भावो य, तिव्वोदयो कोहाइ-कसायाण।
अइसंकिलेसभावो, सुहं वि असुहंव भासदे य॥216॥

पाप के उदय में अशुभ लेश्या, अशुभ भाव, क्रोधादि कषायों का तीव्र उदय, अति संक्लेश भाव होता है एवं शुभ भी अशुभ के समान प्रतिभासित होता है।

मिच्छत्ततिव्वुदयो य, कुणाणम्मि रदी कुचरिय-पविट्ठी।
दुब्भावो दुवियारो जीवस्स होज्ज अइपावेण॥217॥

अति पापोदय से जीव के मिथ्यात्व का तीव्र उदय, कुज्ञान में रति, कुचारित्र में प्रवृत्ति, दुर्भाव व दुर्विचार होते हैं।

तिव्वपावुदयेणं हु, णिंददि णिम्मलजिणधम्मं जीवो।
वीयरायदेवं जिण-वयणं णिग्गंथपवयणं वि॥218॥

तीव्र पाप के उदय से जीव निर्मल जिन धर्म, वीतरागी देव, जिनवचन व निर्ग्रंथ साधुओं की भी निंदा करता है।

धम्मखेत्तेसु कलहो, विसंवादो महप्पेसुवसग्गो।
मणे पावभावादी, अघस्स फलं बंधहेदू वि॥219॥

धर्मक्षेत्रों में कलह, साधर्मियों से विसंवाद, महात्माओं पर उपसर्ग, मन में पाप भाव इत्यादि पाप के फल भी हैं और पाप बंध का हेतु भी हैं।

तं भव्वुल्ला कयावि, णो करेज्ज पावकज्जं सिविणे वि।
सहावधम्मं लहिदुं, पुण्ण-मायरेज्ज आसयेज्ज॥220॥

इसलिए भव्यों को स्वप्न में भी कभी पाप कार्य नहीं करना चाहिए। स्वभाव धर्म की प्राप्ति के लिए सदा पुण्य का आदर करना चाहिए व पुण्य का ही आश्रय करना चाहिए।

संखेवेणं भणामि, पावं दुहस्स हेदू णियमेणं।
पुण्णं सुहस्स हेदू, परंपराए सिव-हेदू वि॥221॥

संक्षेप से इतना ही कहता हूँ कि पाप नियम से दुःख का हेतु है व पुण्य नियम से सुख का हेतु भी है।

अंतिम मंगलाचरण

चरियचक्कविट्टिं हं, जिणसासणपहावग-संतिसिंधुं।
परियंदामि णिग्गंथ-पहणिद्देसग-महासाहुं॥222॥

निर्ग्रंथ मार्ग के निर्देशक, जिनशासन प्रभावक, महासाधु, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज को मैं (आचार्य वसुनंदी मुनि) नमस्कार करता हूँ।

पायसायरं सूरिं, णिरवइक्खं णिरुवहिं पडिसंतं।
परम्मुहं विसयादो, सुउज्जुयारं पणिवयामि हु॥223॥

निस्पृह, निष्कपट, अतिशांत, विषयों से परांङ्मुख, सुसंयमी आचार्य श्री पायसागर जी महाराज को नमस्कार करता हूँ।

आइरियं जयकित्तिं णिरामगंधं तह णिरभिस्संगं।
पणमामि णिरासंसं, णिच्चं णिद्दंद-णिद्दंभं॥224॥

निर्दोष चारित्रवान्, निःस्पृहनिरासक्त, आकांक्षा रहित, निर्द्वंद, निर्दंभ (कपट वा दंभ रहित) आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज को नित्य नमस्कार करता हूँ।

सुमग्गुणिदट्ठं हं, आइरियदेसभूसणं पणमामि।
णित्तुलपडिहाणवं च, गंथणिरुवगं पडिबोहगं।।225।।

सुमार्ग निर्देशक, ग्रंथ प्रतिपादक, प्रतिबोधक, असाधारण प्रतिभा के धनी आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

सिद्धंतचक्किं णाण-पयासग-मिह याले जेट्ठ-सूरिं।
मम गुरुविज्जाणंदं, णिरुत्तमं भत्तीइ वंदे।।226।।

ज्ञान प्रकाशक, इस काल में ज्येष्ठ, अत्यंत श्रेष्ठ मेरे गुरुवर सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज की भक्तिपूर्वक वंदना करता हूँ।

प्रशस्ति

अट्ठोत्तर-पण्णासम-मुणिदिक्खावसरे ममगुरुवरस्स।
लिहिदो मइ पुण्णासव-णिलयो चिय गुरुपसादेणं।।227।।

मेरे गुरुवर (आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज) के 58वें मुनि दीक्षा दिवस अवसर पर यह 'पुण्यास्रव-निलय' गुरुवर के प्रसाद से मेरे द्वारा लिखा गया।

मइ वसुणंदि-सूरिणा, सुहदिणे तारंगासिद्धखेत्ते।
पुण्णो अयं पणवीस-सय-सत्तदालि-वीरद्धम्मि।।228।।

मुझ आचार्य वसुनंदी के द्वारा तारंगा सिद्ध क्षेत्र पर शुभ दिवस 2547 वीर निर्वाण संवत् में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य

1. प्राकृत वाणी भाग-1, 2, 3
2. अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
3. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
4. अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
5. जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
6. जदि-किदि-कम्मं (यति कृतिकर्म)
7. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
8. णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
9. तच्चसारो (तत्त्व सार)
10. धम्म-सुत्तं (धर्म सूत्र)
11. रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
12. सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13. अप्पणिब्भर भारदो (आत्मनिर्भर भारत)
14. विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्या वसु श्रावकाचार)
15. अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
16. अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
17. णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
18. मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
19. मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
20. विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
21. विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
22. समवसरण सोहा (समवशरण शोभा)
23. वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
24. अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
25. कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
26. को विवेगी (विवेकी कौन)
27. पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
28. तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
29. रयणकंडो (सूक्ति कोश)
30. धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)
31. कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
32. खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33. सिरि सीयलणाह चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
34. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
35. समणायारो (श्रमणाचार)

भावार्थ

1. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
2. णिग्गंथ-थुदि (निर्ग्रंथ स्तुति)
3. तच्च-सारो (तत्त्वसार)
4. रट्ठसंति-महाजण्णो (राष्ट्रशांति महायज्ञ)
5. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)

टीका ग्रंथ

1. प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)
2. वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3. नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)

इंग्लिश साहित्य

Inspirational Tales Part- 1 & 2

वाचना साहित्य

1. मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)
2. बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
4. स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य

1. आईना मेरे देश का
2. उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3. उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दुःखदानी)
4. उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)
5. उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)
6. उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7. उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)
8. उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9. उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)
10. उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दुःख ही मानो)
11. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)
12. खुशी के आँसू
13. खोज क्यों रोज-रोज
14. गुरुत्तं भाग 1-15
15. चूको मत
16. जय बजरंगबली
17. जीवन का सहारा
18. ठहरो! ऐसे चलो
19. तैयारी जीत की
20. दशामृत
21. धर्म की महिमा
22. ना मिटना बुरा है न पिटना
23. नारी का धवल पक्ष
24. शायद यही सच है
25. श्रुत निर्झरी
26. सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
27. सीप का मोती (महावीर जयंती)
28. स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना

1. अन्तर्यात्रा
2. अच्छी बातें
3. आज का निर्णय
4. आ जाओ प्रकृति की गोद में
5. आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान
6. आहारदान
7. एक हजार आठ
8. कलम पट्टी बुद्धिका
9. गागर में सागर
10. गुरु कृपा
11. गुरुवर तेरा साथ
12. जिन सिद्धांत महोदधि
13. डॉक्टरों से मुक्ति
14. दान के अचिन्त्य प्रभाव
15. धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)
16. धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17. निज अवलोकन
18. वसु विचार
19. वसुनन्दी उवाच
20. मीठे प्रवचन (भाग 1-6)
21. रोहिणी व्रत कथा
22. स्वप्न विचार
23. सद्गुरु की सीख
24. सफलता के सूत्र
25. सर्वोदयी नैतिक धर्म
26. संस्कारादित्य
27. हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना

1. अक्षरातीत
2. कल्याणी
3. चैन की जिंदगी
4. ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5. मुक्ति दूत के मुक्तक
6. हाइकू
7. हीरों का खजाना

विधान रचना

1. कल्याण मंदिर विधान
2. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3. चौसठऋद्धि विधान
4. णमोकार महार्चना
5. दुःखों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)
6. यागमंडल विधान
7. समवशरण महार्चना
8. श्री नंदीश्वर विधान
9. श्री सम्मेदशिखर विधान
10. श्री अजितनाथ विधान
11. श्री संभवनाथ विधान
12. श्री पद्मप्रभ विधान
13. श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)
14. श्री चंद्रप्रभ विधान
15. श्री पुष्पदंत विधान
16. श्री शांतिनाथ विधान
17. श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान
18. श्री नेमिनाथ विधान
19. श्री महावीर विधान
20. श्री जम्बूस्वामी विधान
21. श्री भक्तामर विधान
22. श्री सर्वतोभद्र महार्चना

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य

1. आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)
2. आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य जी)
3. आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)
4. कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. कर्म प्रकृति (सिद्धांत चक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)
6. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7. चार श्रावकाचार संग्रह
8. जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9. जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)
10. जिन सहस्रनाम स्त्रोत
11. तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)
12. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13. तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)
14. तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15. तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)
16. तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17. धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)
18. धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19. ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)
20. नीतिसार समुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदी स्वामी जी)
21. पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)
22. प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23 पंचरत्न
24. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्र स्वामी जी)
25. मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)
26. भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी जी स्वामी)
27. भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)
28. मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्ति स्वामी जी)
29. योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबालचंद्र जी)
30. योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31. रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)
32. वसुऋद्धि
    - रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)
    - पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)
    - लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)
    - अर्हत प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)
    - स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
    - इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
    - वैराग्यमणि माला (आ. श्री विशाल कीर्ति जी)
    - ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33. सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगति स्वामी जी)
34. सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35. समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
36. समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37. सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)
38. विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय जी)

प्रथमानुयोग साहित्य

1. अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)
2. आराधना कथा कोष (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3. करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)
4. कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)
6. चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7. चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)
8. चेलना चारित्र
9. चंद्रप्रभ चरित्र
10. चौबीसी पुराण
11. जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
12. त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
14. धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15. धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
16. नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17. नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)
18. प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19. पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)
20. पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21. पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)
22. पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23. भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)
24. भद्रबाहु चरित्र
25. मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
26. महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27. महापुराण (भाग 1-2)
28. महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29. मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)
30. यशोधर चरित्र
31. रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)
32. रोहिणी व्रत कथा
33. व्रत कथा संग्रह
34. वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35. विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)
36. वीर वर्धमान चरित्र
37. श्रेणिक चरित्र
38. श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39. श्री जम्बूस्वामी जी चरित्र (श्री वीर कवि)
40. शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41. सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)
42. सम्यक्त्व कौमुदी
43. सती मनोरमा
44. सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45. सुरसुंदरी चरित्र
46. सुलोचना चरित्र
47. सुकुमाल चरित्र
48. सुशीला उपन्यास
49. सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बैरया)
50. सुभौम चरित्र
51. हनुमान चरित्र
52. क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान
   - वास्तु निवारण
   - मृत्युंजय (पं. आशाधर जी कृत)
2. श्री जिनसहस्त्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री जिनसहस्त्रानाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक
4. शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान
   - भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल))
   - शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी)
   - सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)
5. कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)
6. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला) (पुं. प्रवर दौलतराम जी)
7. दिव्य लक्ष्य (संकलन-हिंदी पाठ, स्तुति आदि)
8. धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
10. भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11. विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)
12. सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13. संसार का अंत
14. स्वास्थ्य बोधामृत

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1. अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
2. पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)
3. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
4. दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्वनंदनी, वर्चस्वनंदनी)
5. स्मृति पटल से भाग 1-2 (आ. श्री वर्धस्वनंदनी)
6. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
7. गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)
8. परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
9. स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)
10. स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
11. हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)
12. वसु सुबंध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद्र जी जैन)
13. समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')